गृहस्थ को भी अधिकार है
धर्म करने का

गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का

आचार्य तुलसी

संपादिका

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

श्री फतेहचैन भंसाली
ट्रस्टी, श्रीमती झमकूदेवी भसाली मेमोरियल ट्रस्ट, सुजानगढ–कलकत्ता
सी आर बी. कैपिटल मार्केट्स लि., ३१ मर्जबन रोड, बम्बई के सौजन्य से

प्रकाशक · कमलेश चतुर्वेदी, प्रवधक · आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान) /
मूल्य . चालीस रुपये / पंचम संस्करण १९९५ / मुद्रक : पकज प्रिटर्स, दिल्ली-५३

GRIHASTH KO BHI ADHIKAR HAI DHARAM KARNE KA
by Acharya Tulsı Rs 40 00

स्वकथ्य

मनुष्य के शरीर को खुराक की अपेक्षा रहती है, वैसे ही उसके मन को भी कुछ पौष्टिक खुराक की जरूरत है। शरीर की खुराक है भोजन, पानी आदि पदार्थ। मन की खुराक है विचार। विचार पढ़े जाते है, और उत्पन्न भी किए जाते हैं। विचारशीलता मनुष्य के विकसित मस्तिष्क की पहचान है। मानवीय मस्तिष्क के दो हिस्से होते हैं –दाहिना मस्तिष्क और बायां मस्तिष्क। बाए मस्तिष्क की विचार प्रक्रिया से संचालित व्यक्ति में बौद्धिकता बढ़ती है, तार्किकता जागती है। दाहिने मस्तिष्क की सक्रियता से अन्तर्दृष्टि का जागरण होता है। संतुलित या सफल जीवन जीने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य मस्तिष्क के दोनों भागों को सक्रिय रखे।

मस्तिष्क को सृजनशील या सक्रिय बनाकर रखने में साहित्य की विशेष भूमिका रहती है। साहित्य की अनेक विधाएं है· कथा, उपन्यास, कविता, व्यंग्य जैसी सरल विधाएं, साहित्य की लोकप्रियता बढ़ाती है तो तात्विक और दार्शनिक विश्लेषण साहित्य को सत्य के साथ जोड़ता है। इस दृष्टि से तत्त्व और दर्शन प्रधान साहित्य का विशेष मूल्य है।

बहुत लोगों का अभिमत है कि तात्त्विक और दार्शनिक साहित्य सरल नहीं होता, सरस नहीं होता, इसलिए रुचिकर भी नहीं होता। विषय की गंभीरता के कारण ऐसे साहित्य में नीरसता का अनुभव अस्वाभाविक नही है। किन्तु यह सब लेखक और पाठक की रुचि तथा तत्त्व-प्रतिपादन की शैली पर निर्भर करता है। एक तथ्य किसी लेखक की लेखनी से जटिल रूप धारण कर लेता है, जब कि दूसरा लेखक उसी तथ्य को सरल और सरस अभिव्यक्ति दे सकता है। संस्कृत साहित्य मे दर्शन के ऐसे कई ग्रन्थ है, जिनमे उलझी

हुई पहेलियों को बहुत ही रोचक और आकर्षक पद्धति से सुलझाया गया है।

विद्वानों का अभिमत है कि जैन दर्शन एक वैज्ञानिक दर्शन है। इसका तत्त्ववाद ज्ञान का अखूट भंडार है। किन्तु यह लोक-जीवन के साथ घुला-मिला नहीं। इसकी अपनी मौलिकता है, पर वह प्रकाश मे नही आ पायी। मैंने उस सन्दर्भ में चिन्तन किया। उन कारणों को खोजने का प्रयास किया, जो जैन दर्शन की व्यापक प्रस्तुति में बाधक बने हुए थे। उन कारणों में एक था सरल भाषा में जैन दर्शन के ग्रन्थों का अभाव। कुछ अभाव ऐसे होते है, जिनको भरना सहज नही है। किन्तु यह तो ऐसा अभाव था, जो जैन विद्वानों या साधु-साध्वियों की थोड़ी-सी जागरूकता से भरा जा सकता था।

एक बार मुनि नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) मेरे पास बैठे थे। मैने उनसे कहा–'जैन श्रावको को जैन तत्त्व का ज्ञान कराना आवश्यक है। उनके लिए आगम साहित्य या संस्कृत, प्राकृत साहित्य को पढना और समझना बहुत कठिन है। जैन दर्शन के ऐसे तत्त्व हैं, जिनका श्रावकों के जीवन से भी सम्बन्ध है। वे उनको नया आलोक दे सकते हैं, नई दृष्टि दे सकते है और उन्हें धार्मिकता की दिशा में अग्रसर कर सकते है, पर जानकारी के अभाव में उनका उपयोग नही होता। मै चाहता हूं कि कुछ छोटे–छोटे पाठ तैयार किए जाएं। उनके माध्यम से गभीर जैन तत्त्वों को सरल, सरस और सुबोध बनाकर प्रस्तुत किया जाए।' मुनि नथमलजी ने इस काम को अविलम्ब सम्पादित करने की अपेक्षा बतायी। अपेक्षा उभरकर सामने आ गई तो उसे पूरा करना आवश्यक हो गया। उस दिन के बाद हम बैठे, पाठ तैयार करने का संकल्प स्वीकार कर बैठे। कभी मै बोलता, कभी मुनि नथमलजी बोलते और मुनि गुलाबचन्द लिखता। विशेष लक्ष्य के साथ पाठ तैयार किए गए और वे जैन भारती के मुखपृष्ठ पर पाठको को उपलब्ध भी हो गए। पाठकों ने उन पाठों को पसन्द किया और यह मांग भी की कि उन पाठों को एक जगह संकलित कर उपलब्ध कराया जाए। इस मांग में भी औचित्य था। साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने उस सम्पूर्ण सामग्री को 'मुक्ति-पथ' नाम से संकलित, सपादित कर जनता तक पहुंचा दी।

इस वार लाडनूं प्रवास में योगक्षेम वर्ष की पूरी योजना वनी। उस योजना

में कई पाठ्यक्रम तैयार किए गए। पुस्तकों की सूची में एक नाम था मुक्ति पथ। मै तो उस पुस्तक को भूल ही चुका था। जैन भारती के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित पाठों की याद दिलाई गई तो मैंने कहा --वह पुस्तक श्रावक समाज को धर्म, दर्शन और श्रावकचर्या की जानकारी देने के लिए ही तैयार की है। उसका अच्छा उपयोग हो सकता है। पुस्तक का प्रकाशन सन् १९७७ में हुआ था। उसका प्रथम सस्करण बहुत जल्दी खप गया। उसके बाद उस ओर ध्यान नहीं दिया गया। इस बार अपेक्षा अनुभव हुई तो 'आदर्श साहित्य संघ' ने तत्परता के साथ उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करने का निर्णय ले लिया।
पुस्तक प्रेस में जा रही थी तो उसके नाम के सम्बन्ध में चर्चा चल पड़ी। मुक्ति-पथ नाम अच्छा ही था। पर नाम पढते ही यह ज्ञात नहीं होता था कि यह पुस्तक गृहस्थ-समाज जो तत्व-बोध देने के उद्देश्य से लिखी गई है। कुछ लोगों की तो धारणा ही ऐसी है कि धर्माचरण और तत्त्वज्ञान करने का ठेका साधुओं का है। गृहस्थ अपनी गृहस्थी सभाले, इससे आगे उनका कोई अधिकार नही है। इस धारणा को तोडने के लिए तथा गृहस्थ समाज को इसकी उपयोगिता समझाने के लिए अब 'गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का' पुस्तक पाठकों के हाथों में पहुच रही है। जैनदर्शन के सैद्धांतिक और दार्शनिक तत्त्वों की अवगति पाने के लिए, श्रावक की चर्या को विस्तार से जानने के लिए तथा बच्चो को धार्मिक सस्कार देने के लिए इसका उपयोग हो, यही इसके संकलन की सार्थकता है। योगक्षेम वर्ष में तो विशेष रूप से यह पुस्तक पढ़ी जाए और घर-घर में इसे उपलब्ध कराता जाए, यह अपेक्षा है।

श्री डूंगरगढ
९ सितम्बर, १९८८

--आचार्य तुलसी

अनुक्रम

गृहस्थ को भी अधिकार है
धर्म करने का

धर्म-प्रवर्तन

आदिकाल में मनुष्य वैयक्तिक जीवन जीता रहा है। तब तक समाज का निर्माण नहीं हुआ था। न गांव थे, न नगर। न राज्य था और न कोई शासन-विधान। शिक्षा-दीक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं था। न कृषि थी, न व्यवसाय। न अर्जन था, न सम्पदा का संचय। न वस्त्र-निर्माण की कला ज्ञात थी और न कोई मकान बनाना जानता था। न कोई धर्म था, न कोई सम्प्रदाय।

उस युग के लोग येन-केन-प्रकारेण अपनी जीविका चलाते और प्राकृतिक वस्तुओं से जीवन का निर्वाह करते।

समय का रथ आगे बढ़ा। मनुष्य ने सामाजिक जीवन जीना शुरू किया। गांव बसे। कुल-शासन की पद्धति चालू हुई। कुछ विधि-विधान बना। कुल-शासक नियुक्त हुए। शासन-तन्त्र का सूत्रपात हो गया। इस घटना से दो निष्पत्तियां हुई–

१. मनुष्य ने सीमित अर्थ मे अपनी स्वतन्त्रता छोड़ी, एक सीमा तक परतन्त्रता का वरण किया।

२. उसके बदले में दूसरों का सहयोग प्राप्त किया।

विकास की इस शृंखला में कृषि, व्यवसाय, राजनीति, शिक्षा आदि का प्रारम्भ और विकास होता गया। क्रमश : आबादी भी बढ़ती गयी। जैसे-जैसे आबादी बढ़ी, वैसे-वैसे वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा और जैसे-जैसे वस्तुएं बढ़ीं, वैसे-वैसे उनके संग्रह की भावना भी बढ़ती गयी। इस स्थिति में सहज धर्म या सहज नियन्त्रण की शृंखला अनायास शिथिल हो गयी। उस समय धर्म-प्रवर्तन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा।

मनुष्य एक प्राणी है। अन्य प्राणियों से वह उत्कृष्ट है। चैतन्य-विकास का जितना अवसर मनुष्य को मिलता है, उतना दूसरे प्राणियों को नही मिलता। सहजधर्म मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में भी मिलता है किन्तु धर्म की विशिष्ट साधना का प्रयत्न मनुष्य ने ही किया है। उसने अपनी आकांक्षाओ और संघर्ष की वृत्तियों पर आन्तरिक नियन्त्रण स्थापित करने व अपनी आन्तरिक शक्तियों का विकास करने के लिए धर्म का प्रवर्तन किया।

धर्म और धर्म-संस्था

धर्म-प्रवर्तन के आदिकाल में धर्म ही मुख्य था। फिर काल-मर्यादा के अनुसार जिस व्यक्ति ने धर्म का प्रवर्तन किया, उसी के नाम से वह पहचाना जाने लगा। उदाहरणस्वरूप अर्हत् ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया वह अर्हत धर्म कहलाया। जैन-धर्म का प्राचीनतम नाम आर्हत धर्म है। अन्य धर्मो के लिए भी यही बात घटित होती है। बुद्ध के द्वारा प्रवर्तित धर्म बौद्ध धर्म कहलाया। इसी प्रकार ईसा का धर्म ईसाई धर्म कहलाता है। कुछ धर्मो के नाम अपने-अपने इष्ट-देवताओं के आधार पर प्रचलित हो गए, जैसे--वैष्णव, शैव आदि।

कुछ लोग पूछा करते है कि सबसे प्राचीन धर्म कौन-सा है और कुछ पूछा करते है कि अनादि धर्म कौन-सा है? धर्म प्राचीन भी है और अनादि भी है किन्तु वह केवल धर्म ही है। धर्म के नाम पर उसके संस्थान या सम्प्रदाय चलते है। वे प्राचीन तो हो सकते हैं किन्तु अनादि नहीं। उनकी प्राचीनता में तरतमता भी है। कोई धर्म-सम्प्रदाय दो हजार वर्ष पुराना है, कोई ढाई हजार वर्ष पुराना है, कोई पांच हजार वर्ष पुराना है तो कोई उससे भी पुराना है।

जैन धर्म बहुत पुराना है। वह हजारों-हजारों वर्ष पुराना है। इस काल-चक्र में उसके आदि प्रवर्तक भगवान् ऋषभ भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आदि पुरुष है। उन्होंने भारतीय समाज को वह सब कुछ सिखाया जो सामाजिक जीवन में उपयोगी होता है। वे समाज-नेता, राज-नेता और धर्म-

नेता—तीनों थे। वे जीवन के पूर्वार्ध में समाज-नेता और राज-नेता मुख्य रूप में थे और गौण रूप में धर्म-नेता भी थे। जीवन के उत्तरार्ध में वे केवल धर्म-नेता हो गये। उन्होंने देखा कि जीवन की सफलता का सर्वश्रेष्ठ सूत्र धर्म ही है। राज्य और समाज की सार्थकता धर्म में ही प्रमाणित होती है। धर्म-शून्य समाज और राज्य मनुष्य के लिए स्वयं आतंक बन जाता है।

शाश्वत धर्म

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भंते! शाश्वत धर्म क्या है?'

भगवान ने कहा—'शाश्वत धर्म है अहिंसा।'

भगवान् ऋषभ ने अहिंसा का व्रत स्वीकार किया और उसी का उपदेश दिया। अहिंसा जीवन का सहज धर्म है। आत्मा और प्राणी को जानने-पहचानने की कला है। जो अहिंसा को नहीं जानता, वह दूसरों के अस्तित्व को नहीं जानता। जो दूसरों के अस्तित्व को नहीं जानता वह आत्मा के अस्तित्व को कैसे जान सकता है?

व्यक्ति का स्वयं का जैसे अस्तित्व है वैसे ही दूसरों का अस्तित्व है। व्यक्ति में जैसे सुख-दुःख की अनुभूति है वैसे ही दूसरे जीवों में सुख-दुःख की अनुभूति होती है। इसलिए अहिसा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच एक सेतु है जो विभिन्न व्यक्तियों तक पहुंचने के लिए एक मार्ग देती है। उसका नाम है समता।

जैन धर्म अहिसा-प्रधान धर्म है। अहिंसा-प्रधान धर्म का अर्थ समता-प्रधान धर्म है। इसे सामायिक धर्म भी कहा जाता है।

जैन धर्म में दो कोटि की दीक्षाएं होती है—एक मुनि की, दूसरी श्रावक की। जो सामायिक व्रत को स्वीकार करता है वह मुनि होता है और श्रावक भी वही होता है जो सामायिक व्रत को स्वीकार करता है। समता के विन्दु पर पहुंचे विना न कोई मुनि हो सकता है और न कोई श्रावक। इनमें काल का भेद हो सकता है, मात्रा का भेद हो सकता है किन्तु स्वरूप का भेद नहीं। मुनि के जीवन में सामायिक का वह विकास होता है, जो जीवन-भर उसे

प्रकाश देता रहता है। श्रावक के जीवन में सामायिक का अल्पकालिक विकास होता है किन्तु समता का विकास दोनों में होता है। जैन धर्म को विषमता मान्य ही नहीं है। उसकी साधना को एक शब्द में साम्य-साधना कहा जा सकता है। उसका साध्य है—मोक्ष। मोक्ष अर्थात् सबका सर्वथा साम्य। उसका साधन धर्म है। धर्म यानी सबको मोक्ष की ओर ले जाने का मार्ग।

अहिंसा और नैतिकता

जैन धर्म विनयमूल धर्म है। विनय यानी आचार। मोक्ष के तीन मार्ग है–देखना, जानना और आचरण करना। इनमें अन्तिम बात है–आचरण करना। उसके बिना देखना और जानना व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुंचा पाता, इसलिए जैन धर्म आचार-प्रधान धर्म है।

भगवान् महावीर ने आचार धर्म का जो प्रतिपादन किया, उससे नैतिकता के सिद्धान्त सहज फलित होते है। नैतिकता और क्या है? अहिसा का सामाजिक जीवन में प्रयोग ही नैतिकता है। अहिसा जब व्यावहारिक जीवन में उतरती है तब वह नैतिकता बन जाती है। जिसमें मैत्री का भाव नहीं होता, करुणा की वृत्ति नहीं होती और दूसरों के कष्ट को अनुभव करने का मानस नहीं होता, वह नैतिक कैसे बन सकता है? नैतिकता का स्रोत मैत्री की भावना से ही प्रवाहित होता है।

कुछ लोग राष्ट्रीयता के आधार पर नैतिकता को विकसित करते है और वह होती भी है किन्तु उसमें मानव के प्रति वह संवेदना नहीं होती, जो अहिसा से फलित नैतिकता मे होती है । वह नैतिकता के रूप में राष्ट्रीयता ही है। नैतिकता का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। मूल्य उसे मानवीय सम्बन्धों के साम्यपूर्ण धरातल से ही प्राप्त होता है।

कहा जाता है कि वर्तमान में नैतिकता का अभाव है। किन्तु मै कहना चाहता हूं कि अहिसा, मैत्री या करुणा का अभाव है, या व्यापक प्रेम का अभाव है। जहां प्रेमपूर्ण सम्बन्ध होते हैं वहां कोई व्यक्ति किसी के साथ अनैतिक व्यवहार कर ही नहीं सकता। अपने या अपने प्रिय के साथ मनुष्य यदि प्रवंचना करने लगे तो बहुत सम्भव है कि उसकी आत्मा ग्लानि से भर

जाए। अनैतिकता का प्रयोग वहीं होता है जहां परायेपन की अनुभूति होती है। इस सन्दर्भ में अहिंसा का अर्थ है--स्व का विस्तार। स्व को इतना बड़ा बना देना कि पर जैसा कुछ रहे ही नहीं। पर की भावना समाप्त होने पर अनैतिकता की वृत्ति अपने आप समाप्त हो जाती है। जैन धर्म ने समय-समय-पर इसी सत्य का उद्‌घाटन किया है।

अहिंसा की सम्भावना

जैन धर्म अहिंसा-प्रधान है। क्या अहिंसा-प्रधान धर्म समाज के लिए उपयोगी हो सकता है? समाज का आधार है—आर्थिक संघटन—अर्थ और पदार्थ। सामाजिक प्राणी के लिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वह खेती, व्यवसाय या अर्जन न करे और यह भी कैसे सभव हो सकता है कि वह अपने अधिकृत पदार्थो या अधिकारो की सुरक्षा न करे। अर्थ और पदार्थ का अर्जन और संरक्षण हिंसा के बिना नहीं हो सकता? ये वे प्रश्न हैं जिनका अहिंसा को सबसे पहले सामना करना पड़ता है किन्तु इस मामले मे अहिंसा पराजित नहीं है। जैन तीर्थकरों ने उसका प्रारम्भ आवश्यकता के स्तर पर नही किया किन्तु संकल्प के स्तर पर किया। उन्होंने कहा कि तुम अहिसा का प्रारम्भ उस बिन्दु पर करो जहां तुम्हारे जीवन की अनिवार्यताओं में भी बाधा न आये और तुम क्रूर व आक्रामक भी न बनो। आवश्यकता और क्रूरता एक नहीं है। इस विश्लेषण ने अहिंसा का पथ प्रशस्त कर दिया। मनुष्य के लिए यह सम्भावना उत्पन्न कर दी कि तुम घर में रहते हुए भी अहिंसक बन सकते हो। इस व्यावहारिक मार्ग से मनुष्य को मनुष्य बनने का अवसर मिला और उसकी सामाजिकता भी कुण्ठित नहीं हुई। उसे धार्मिक बनने का मौका मिला और उसके व्यवहार का भी लोप नहीं हुआ।

कुछ लोगों का अभिमत है कि जैन धर्म की अहिंसा ने सामाजिक व्यक्ति को कायर बना दिया। मै इस विचार से सहमत नहीं हूं। मेरी दृष्टि में उसने मनुष्य को कोमल बना दिया। उसकी क्रूरता का परिमार्जन कर दिया। यदि मनुष्य जंगली जानवर की भांति एक-दूसरे पर झपटता रहे तो अहिसा की संभावना ही नहीं होती। समाज के लिए अहिसा अत्यन्त

उपयोगी है। मै यह नहीं कहता कि समाज मे उसका उपयोग असीम है, फिर भी जिस सीमा तक उसकी उपयोगिता है उसे हम क्यों नहीं स्वीकार करे?

सन् १९६५ की बात है, मै दिल्ली में था। उन दिनों हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का युद्ध चल रहा था। दिल्ली विश्वविद्यालय के दो प्रोफेसर आये। उन्होंने कहा—"आचार्यजी! अब जैन क्या करेंगे?"

मैने कहा—"जो शेष लोग करते है, वही जैन करेंगे।"

वे बोले—"यह कैसे हो सकता है? वे तो अहिसा में विश्वास करते हैं।"

मैने कहा—"क्या उनके पास परिग्रह नहीं है? क्या वे सग्रह नही करते? यदि उनके पास संग्रह है तो वे फिर हिंसा से कैसे बचेंगे? क्योंकि मै हिसा और संग्रह को भिन्न नहीं मानता। ये दोनो एक ही वस्त्र के दो छोर है। आप संग्रह करें और हिंसा से बचना चाहें, यह कैसे सम्भव हो सकता है? **हिंसा का सूत्र है—जितना संग्रह उतनी हिंसा। और अहिंसा का सूत्र है—जितना असंग्रह उतनी अहिंसा।**

अहिंसा का पराक्रम

कुछ लोग सोचते हैं कि अहिंसा ने समाज को कायर बनाया, फिर सामाजिक स्तर पर उसके उपयोग का आग्रह क्यों? मुझे लगता है कि यह सोचना नितात भ्रातिपूर्ण है। अहिसा और कायरता में कोई संबंध नहीं है। भीरू आदमी अहिंसक नहीं हो सकता। जो आदमी मौत से डरता है, वह अहिसक नही हो सकता। अहिसक वह होता है जो अभय है और जिसे मौत का भय नही सताता। फिर यह कैसे माना जाए कि अहिंसा व्यक्ति या समाज को कायर बनाती है। यह भ्रम इसलिए उत्पन्न हुआ कि सही अर्थ में अहिसा में विश्वास नहीं करने वाले धार्मिकों ने अपनी दुर्बलता को अहिसा की ओट मे पाला-पोसा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उग्र हिंसावादी अहिंसा की अनुपयोगिता प्रमाणित करने के लिए यह प्रचारित करते हैं कि अहिसा समाज को कायर बनाती है।

हिन्दुस्तान के इतिहास में मौर्य और गुप्तकाल को स्वर्णयुग कहा जाता है। उस युग मे सम्राट् चन्द्रगुप्त और सम्राट् अशोक जैसे व्यक्तियों ने अहिंसा को वह प्रतिष्ठा दी, जो कि साधारण व्यक्ति दे नहीं सकता। हम इस ऐतिहासिक तथ्य को भुला देते हैं कि हिन्दुस्तान पारस्परिक घृणा और जातीय संघर्ष से कायर बना, पारस्परिक फूट और पारस्परिक आक्रमण से कायर बना और इन्हीं कारणों से वह परतंत्र बना। कहां वह मौर्य युग का वृहत्तर भारत और कहां विक्रम की दसवीं शताब्दी के बाद का परतन्त्र भारत। भारत की परतन्त्रता कायरता से आयी और वह कायरता सामाजिक शक्ति के विघटन से आयी। एक संस्कृति में पले लोगों में फूट के बीज बोकर क्या कोई भी राजनेता या धर्मनेता समाज या राष्ट्र को शक्तिः

बनाये रख सकता है? कभी नहीं रख सकता। हमें स्थिति का यथार्थ मूल्यांकन करना चाहिए। जो विद्वान् हिन्दुस्तान की परतन्त्रता के लिए अहिसा को दोषी ठहराते है, वे सचमुच स्वप्नलोक में है। यह तथ्य जितना सैद्धांतिक है, उतना ही ऐतिहासिक है कि मारने वाला उतना वीर नहीं होता जितना कि मरने से नहीं डरने वाला होता है। दूसरी बात यह है कि जैनों और बौद्धों का हिन्दुस्तानी राजनीति पर लम्बी अवधि तक प्रभुत्व रहा। उन्होंने राष्ट्र की सुरक्षा और उसका विस्तार किया है। जिस समय हिन्दुस्तान परतन्त्र हुआ उस समय उस पर जैनों और बौद्धों का प्रभुत्व नहीं था। परतन्त्र हिन्दुस्तान के अनेक राज्यों में जैन लोग दण्डनायक और सेनानायक रहे और उन्होंने अपने राज्य को अनेक आघातों से उबारा। इसलिए इस आरोप में सचाई प्रतीत नहीं होती कि अहिंसा समाज को कायर बनाती है।

अहिंसा का अभिनय

जैन तीर्थंकरों ने अहिंसा का जो विराट् रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया था वह हमारी धारणा में स्पष्ट नही है। इसलिए हम अहिंसा के बारे में कुछ विचित्र-सी कल्पना कर लेते हैं। यदि उसका विराट् रूप हमारी कल्पना में आ जाये तो बहुत सारी भ्रान्तियां और कठिनाइयां अपने-आप समाप्त हो जाएं।

अहिसा का प्रारम्भ चित्त की शुद्धि से होता है। वह जीवन का संयम है। उसकी पृष्ठभूमि है—चित्त की निर्मलता। जिसका चित्त कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) से कलुषित होता है, उसके जीवन में अहिसा का विकास नहीं हो पाता। जिसका अपने मन पर नियंत्रण नही होता और जो अपनी इन्द्रियों को वश में नही कर पाता, उसके जीवन में अहिसा कैसे आ सकती है? यदि ऐसा व्यक्ति अपने-आपको अहिसक मानता है तो वह अहिसा के साथ मखौल ही है।

घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, वासना और दुराग्रह—ये सब जीवन में पलते रहें और अहिसा भी सधती रहे, शायद ऐसा मान लिया गया है किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। कुछ लोग जीव न मारने तक ही अहिसा को सीमित कर देते है। जीवों को न मारना निश्चित ही अहिसा है किंतु अहिसा उतनी ही नही है। वह उससे भी बहुत आगे है। जो लोग अहिसा को सीमित अर्थ मे देखते है, उन्हें किसी चीटी के मर जाने पर पछतावा होता है किन्तु दूसरों पर झूठा मामला चलाने मे पछतावा नहीं होता है। बहुत बडे अप्रामाणिक साधनों से पैसा कमाने में उन्हें हिंसा का अनुभव नही होता। अपने क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरो का बड़े-से-वड़ा अहित करने में उन्हें हिसा का

अनुभव नहीं होता। यह कैसी अहिसा है? ऐसा लगता है कि अहिंसा की परिभाषा अपने स्वार्थ के सन्दर्भ में कर ली गयी है। जहां स्वार्थ का प्रश्न है वहा मनुष्य को हिसा करने में संकोच नहीं होता और जहां अपने स्वार्थ में कोई बाधा नहीं पहुचती वहां अहिंसा का अभिनय किया जाता है। यह अहिसा के प्रति न्याय नहीं है।

वैचारिक अहिंसा

जैन शास्त्रों की दृष्टि से दूसरे के विचारों की हत्या करना, उन्हें तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करना किसी प्राणी की हत्या से कम नहीं है। प्राणी की हत्या करने वाला शायद उसी की हत्या करता है किन्तु विचारों की हत्या करने वाला न जाने कितने ही प्राणियों की हत्या का हेतु बन जाता है। हिंसा का अर्थ है—आत्म-पतन। अपना आत्म-पतन जैसे हिंसा है, गलत विचारों के द्वारा दूसरों को आत्म-पतन की ओर ले जाना भी हिंसा है और वस्तुत. अपना आत्म-पतन भी उससे जुड़ा हुआ है। जिस व्यक्ति ने वैचारिक अहिंसा का मूल्य नहीं समझा, वह जीव की अहिंसा का मूल्य कैसे समझ पाएगा?

कोई व्यक्ति किसी दूसरे के विचारों के प्रति अन्याय न करे, इसी दृष्टि से भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का प्रतिपादन किया था। अहिसा का विचार प्रायः सभी धर्माचार्यो ने दिया किन्तु एकांगी दृष्टिकोण से होने वाली हिंसा की ओर भगवान् महावीर ने ही जनता का ध्यान आकृष्ट किया अतः वैचारिक अहिंसा का प्रतिपादन उनकी अपनी मौलिक देन है।

जीवन-व्यवहार में सैद्धान्तिक स्वीकृति में सर्वाङ्गीण दृष्टि का उपयोग किए बिना अहिंसक नहीं रह सकते। दूसरे के दृष्टिकोण को सही रूप से नहीं समझना या सही रूप में प्रस्तुत नहीं करना उसके प्रति न्याय नहीं है। वह बहुत बड़ी हिसा है। भगवान् महावीर ने कहा कि दूसरे की दृष्टि को अपेक्षा से समझो और उसका अपेक्षा से ही प्रतिपादन करो। प्रत्येक पदार्थ मे अनन्त धर्म होते है। एकांगी दृष्टि वाले लोग उसके एक धर्म को पकड़कर

उसे सर्वाङ्गीण समझ लेते हैं। यह सत्य और अहिंसा दोनों से परे है।

हम वस्तु को सर्वाङ्गीण दृष्टि से देखना सीखें और सापेक्ष दृष्टि से उसका प्रतिपादन करें। यह दूसरों के विचारों के प्रति न्याय होगा स्वयं अपने प्रति न्याय होगा तथा सत्य और अहिंसा के प्रति न्याय होगा।

धार्मिक या दार्शनिक क्षेत्र में बहुत सारे वाद-विवाद चलते है। वे एकांगी आग्रह के कारण ही चलते है। पुराने जमाने में बड़े-बड़े शास्त्रार्थ होते थे। अहिंसा के संदर्भ में देखें तो उनका मूल्य मल्लकुश्ती से अधिक नहीं है। जय और पराजय की भावना स्वयं में हिंसा है किन्तु ये सब एकांगी आग्रह के कारण चलते थे। हम वस्तु के समग्र रूप को सर्वाङ्गीण दृष्टि से देखने का अभ्यास करें तो वैचारिक हिंसा सहज ही निरस्त हो जाएगी।

अहिंसा के विभिन्न रूप

जैन धर्म में जितना मूल्य अहिसा का है उतना ही सत्य का है। वास्तव में अहिसा और सत्य—ये दो है ही नहीं। जहां अहिसा नहीं है वहां सत्य नहीं होता। मूल में महाव्रत एक है और वह है—अहिंसा। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सब उसी के सापेक्ष रूप है। अहिंसा वाणी के क्षेत्र में सत्य का रूप ले लेती है। पर वस्तु के क्षेत्र में वह अचौर्य का रूप ले लेती है। इन्द्रिय-विषयो के क्षेत्र में वह ब्रह्मचर्य का रूप ले लेती है। अर्थ के क्षेत्र में वह अपरिग्रह का रूप ले लेती है। इस प्रकार विभिन्न सम्पर्को मे एक ही अहिसा अनेक रूपों मे प्रकट हो जाती है। साधारण लोग अहिंसा के विभिन्न पर्यायो को सरलता से समझ सकें, इसलिए उसके सत्य, अचौर्य आदि विभिन्न नाम रखे गए। तत्त्व की गहराई मे जाएं तो अपरिग्रह अहिंसा से भिन्न नही है और अहिसा अपरिग्रह से भिन्न नहीं है। ब्रह्मचर्य, अचौर्य और सत्य के लिए भी यही बात है।

हिसा क्या है? असत्प्रवृत्ति मात्र हिसा है। प्राणवध उसका एक अंग है। असत्य बोलना, चोरी करना आदि सब असत्प्रवृत्ति है इसलिए ये सब हिसा के प्रकार है। फिर भी न जाने ऐसा क्यों हुआ कि धार्मिक लोगो के मन मे जीव-वध के प्रति जितनी ग्लानि है उतनी असत्य, अप्रामाणिकता, वासना और सग्रह के प्रति नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि अहिसा का हृदय पकड़ा नहीं गया।

भगवान् महावीर ने स्थान-स्थान पर कहा है कि जो व्यक्ति हिसा और परिग्रह दोनो का परित्याग नही करता, वह सम्यग्-दर्शन को नही पा सकता। इस सूत्र मे हिसा और परिग्रह—दोनों पर समान बल दिया है। फिर भी हमारे

धार्मिकों का ध्यान जितना हिंसा को छोड़ने की ओर जाता है उतना परिग्रह को छोड़ने की ओर नहीं जाता। इसलिए असत्य और अप्रामाणिकता की वृत्ति कम नहीं होने पाती।

हमें इस प्रश्न को गहराई से समझ लेना है कि सत्य आदि महाव्रतो की सम्यग् आराधना करके ही हम अहिसा की सम्यग् आराधना कर सकते है, अन्यथा नही। इसलिए उसका बोध होना नितान्त अपेक्षित है।

1

अहिंसा

धार्मिक क्षेत्र में अहिसा का सबसे पहला स्थान है। अन्य व्रत तो अहिसा का पुष्ट करने के लिए है।

किसी का प्राण न लेना मात्र ही अहिंसा नहीं है, अहिंसा है स्वय का हिसा से बचना। पग-पग पर जागरूक रहना कि मुझसे किसी प्रकार की हिसा न हो जाय। अपने-आपको बचाने के लिए तो सभी सचेष्ट रहते है, पर हिसा से अपने-आपको बचाने वाले विरले ही मिलेगे। सब्जी छीलने वाला व्यक्ति भी ख्याल रखता है कि कही हाथ न कट जाय। पर कौन ध्यान रखता है कि चलते-फिरते, उठते-बैठते मुझसे किसी प्रकार की हिसा न हो जाए, मै हिसा का भागी न बन जाऊं।

संसार के सभी प्राणी जीना चाहते है. कोई मरना नहीं चाहता। चींटी तक मरने का अन्देशा पाते ही भाग खड़ी होती है। उसे जीवन प्रिय है। उसे क्या, सभी को जीवन प्रिय है।

किसी को मत मारिये, मत सताइये। प्रत्येक प्रवृत्ति मे उपयोग करिये। उपयोग रखिये। उपयोग रखने से कितने ही पापो से बचा जा सकता है। उपयोग परम-धर्म है। एक साधु उपयोगपूर्वक देख-देखकर चलता है। वह हिसा से हर वक्त सचेष्ट रहता है। ऐसी हालत में यदि संयोगवश कोई जीव पाव के नीचे आकर दब भी गया तो वह उसके लिए हिसक नही होगा। लेकिन एक साधु असावधानी से चलता है, इस स्थिति में कोई जीव न भी मरा तो भी वह हिंसक है। क्योकि वह अहिसा के प्रति लापरवाह है। उसने इसका ख्याल नहीं रखा कि मुझसे किसी प्राणी का नाश न हो जाय। अतः इस मानव-जीवन का उपयोग करने के लिए त्रस तथा स्थावर सभी प्रकार

के जीवों के प्रति समभाव रखना जरूरी है। एक गृहस्थ को अपने आवश्यक कार्यों के लिए हिसा करनी पडती है। पर वह उसे हिसा समझे, उसके लिए अनुताप करे और निरर्थक हिंसा से बचने का प्रयत्न करे तो वह अहिंसा की ओर गति कर सकता है।

हिंसा और अहिंसा

व्यवहार मे प्राणी को मारना-सताना हिसा है और तत्त्व-दृष्टि से राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति से किया जाने वाला प्राण-वध हिंसा है। आत्मा की शुद्ध या स्वाभाविक स्थिति अहिसा है।

अहिंसा के वर्गीकृत रूप दो हैं—निषेधक और विधायक। पूर्वी और पश्चिमी धर्म-प्रवर्तको और विचारकों के विचारों में इस रूप को लेकर द्वैत नहीं दीखता। उनमें प्रायः पूर्ण सामंजस्य है।

अहिंसा प्रत्येक स्थिति में उपादेय है। हिंसा जीवन की कमजोरी है। वह किसी भी स्थिति में स्वीकार्य नहीं।

मुनि के लिए हिंसा सर्वथा—मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमति से त्याज्य है। गृहस्थ अर्थ-हिंसा—जो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक नहीं है, से अवश्य बचे।

हिंसा से नहीं बच सकना और अहिंसा एक नही है। 'अनिवार्य हिसा करनी चाहिए' और 'अनिवार्य हिसा हुए बिना नही रहती'—ये दो बातें है। हिसा हिसा है। उसमें देश, काल और परिस्थिति का अपवाद नहीं हो सकता।

अभाव जितना सरल होता है, भाव उतना ही जटिल। नकार की भाषा मे जो एकता दीखती है, वह हकार की भाषा में नही दीखती। भावात्मक अहिसा इस नियम का अपवाद नहीं।

जैन-अहिसा को साधारणतया निवृत्त्यात्मक माना जाता है। इसका कारण यही है कि उसमें संयमहीन करुणा यानी राग-द्वेषात्मक सेवा को

आत्मसाधना की दृष्टि से स्थान नही है।

अहिसा की परिधि मे वही सेवा आ सकती है, जो आत्म-साधना से अनुप्राणित है।

शारीरिक सेवा और आध्यात्मिक सेवा के बीच एक भेद-रेखा न हो तो फिर मोह और माध्यस्थ्य, भौतिक तुष्टि और आत्मिक शान्ति में कोई अन्तर नही हो सकता।

अहिंसा की शक्ति

क्रान्ति दो प्रकार की होती है–हिंसात्मक और अहिंसात्मक। हिसात्मक क्रान्ति असफल हुई है। देखने में वह सफल लग सकती है किन्तु वास्तव मे सफल नहीं हुई है। अहिसात्मक क्रान्ति भी पूरी सफल नहीं हो पायी। इसका कारण यह है कि हिसात्मक क्रान्ति करने वालों की अपने तोड़-फोड़ के साधनो में जैसी निष्ठा होती है वैसी निष्ठा अहिंसात्मक क्रान्ति करने वालों को अपने साधनो में नहीं होती। निष्ठा के बिना सफलता कैसे मिल सकती है? अहिसात्मक क्रान्ति को सफल होना है तो उसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति पैदा करनी होगी।

हमारे पूर्ववर्ती तीर्थंकरों और सन्तों ने सामूहिक क्रान्ति का प्रयास किया। भगवान् पार्श्वनाथ के समय क्रियाकाण्डों की बहुलता थी। पंचाग्नि तप किया जाता था। इस अज्ञान कष्ट को मिटाने के लिए उन्होने इसका सशक्त प्रतिकार किया। महावीर ने भी प्रतिरोधात्मक अहिंसा का प्रयोग 'दास-प्रथा' के विरोध मे किया। इसी कृत्य को उन्होंने क्रूरता, कायरता और हिसा बतलाया। महात्मा गांधी ने भी इसी शक्ति का प्रयोग किया। फलतः अनेक व्यक्तियो ने इसका महत्त्व समझा और वे इसमें सक्रिय बने।

देश की वर्तमान दुरवस्था को देखते हुए लगता है कि अहिसा में पुनः प्रतिरोधात्मक शक्ति जागृत की जाए ताकि हिंसा की निरंकुशता पर अंकुश लगाया जा सके। अहिसा में प्रतिरोध और त्राण की क्षमता आ जाए तो मै जानता हूँ कि भारतवर्ष में थोड़े उद्बोधन से ही काफी जागरण हो सकता है।

धर्म की आत्मा अहिंसा

'अहिंसा को जीवन में उतारना चाहिए, रग-रग में रमाना चाहिए' अहिंसा को आदेय और उपादेय मानने वाले लोगों को ऐसा उपदेश देते हुए कुछ विचार आता है। जो जन्म-काल से ही अहिंसा को मानते आये है, जिनकी पीढ़ियां अहिंसा को मानती आयी हैं, अहिंसा का नाम सुनने मात्र से जिनकी छाती फूल जाती है, जो अहिसा को अपना ध्रुव सिद्धान्त मानते है, जिनके साधु-सन्त अथवा दूसरे शब्दों में धर्मगुरु अहिसा के रंग में रंगे हुए है, मजीठ-सा अहिंसा का रंग जिनकी रग-रग में चढ़ा हुआ है, उनको अहिंसा का उपदेश देते हुए विचार होना ही चाहिए। वास्तव में देखना यह है कि जिस अहिंसा का धर्मगुरु पालन करते हैं, वह अनुयायियों के जीवन में क्या स्थान रखती है? अनुयायियों ने उसे अपने जीवन में कहां तक उतारा है? उनको अहिसा का गर्व मात्र है या सच्चा गौरव है?

अहिसा-धर्म का प्रचार साधु-सन्तों के साथ-साथ उनके अनुयायी भी कर सकते हैं। रुपये-पैसे से नहीं, बल्कि धर्म के आचरण से अनुयायियों का जीवन धर्म से ओत-प्रोत होना चाहिए। उनमें धर्माभिरुचि होनी चाहिए उन्हें धर्म के प्रति जागरूक रहना चाहिए। उनके जीवन पर धर्म की एक ऐसी गहरी छाप होनी चाहिए, जिससे उनके आचार-विचार और व्यवहार को देखने मात्र से लोगों पर एक धार्मिक प्रभाव पड़े। अपने जीवन में सच्ची अहिसा को उतारने से ही जनता के सामने एक प्रशस्त उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

अहिंसा धर्म का गौरव है। उसकी जान है। धर्म मे से एक अहिंसा को निकाल दिया जाय तो फिर कुछ न बचेगा। सिर्फ अस्थिकंकाल रह जायेगा।

धर्म की आत्मा अहिंसा है। अहिंसा नहीं तो धर्म नहीं। धर्म है तो उसमे अहिंसा रहेगी।

धर्म पर सबका अधिकार है। इसी तरह अहिंसा का आचरण सभी कर सकते है। वह किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष के लिए नहीं, वह सबके लिए आचरणीय है।

गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म का

सत्य क्या है ?

दृष्टि और प्रतिपादन दो प्रकार के होते है–यथार्थ और अयथार्थ। जो तथ्य जिस रूप में है उसे उसी रूप में देखना और प्रतिपादित करना यथार्थ है। तथ्य के विपरीत दर्शन और प्रतिपादन अयथार्थ हो जाता है। सत्य का अर्थ है–यथार्थ का दर्शन और प्रतिपादन।

यथार्थ का दर्शन–यह दृष्टिकोण का सत्य है या सत्य का दृष्टिकोण है। यथार्थ का प्रतिपादन वाणी का सत्य है। सत्य का महाव्रत चरित्र का पक्ष है, व्यवहार का पक्ष है। सत्य का महाव्रती दूसरे को वही बात कहता है, जो यथार्थ होती है और यथार्थ भी अहिंसा धर्म के अनुकूल होती है।

सत्य का ऋजुता के साथ गहरा सम्बन्ध है। जो व्यक्ति ऋजु नही होता, वह सत्य का प्रतिपालन नहीं कर सकता। इस सन्दर्भ में सत्य का सम्बन्ध केवल वाणी से ही नहीं होता किन्तु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से हो जाता है। इस आधार पर सत्य की परिभाषा यह हो जाती है–

सत्य	असत्य
काया की ऋजुता	काया की वक्रता
वाणी की ऋजुता	वाणी की वक्रता
भाव की ऋजुता	भाव की वक्रता
संवादी-प्रवृत्ति (कथनी-करनी की समानता)	विसंवादी प्रवृत्ति (कथनी करनी का विरोध)

इन चारो अंगो का समग्रता से अनुशीलन करना ही सत्य का महाव्रत है। असत्य और मायाचार का निकट का सम्वन्ध है। जो कुशल मायावी नही

होता, वह कुशल असत्य-भाषी भी नहीं होता। सत्य में कोई छिपाव नहीं होता। असत्य-भाषी को बहुत छिपाना पड़ता है। उसे एक बड़ा-सा मायाजाल बिछाना पड़ता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने असत्य के लिए वार-वार 'मायामृषा' शब्द का प्रयोग किया।

जिस प्रवृत्ति मे माया है, दूसरों को ठगने की मनोवृत्ति है और असत्य है–यथार्थ को उलटने का प्रयत्न है, वहां हिंसा कैसे नहीं होगी? यह समूचा प्रयल हिसा का प्रयत्न है। इसलिए असत्य बोलना हिंसा से भिन्न वस्तु नहीं है।

सत्य का उद्‌घाटन

यथार्थ घटना को उलटकर कहना जैसे असत्य है वैसे ही अज्ञात सत्य का निरसन करना भी असत्य है। सत्य एक विशाल समुद्र की भाति हमारे सामने है। हम उसके तट पर खडे है। उसका दृष्ट भाग अदृष्ट भाग की अपेक्षा बहुत ही थोड़ा है। जो दृष्ट है, आंखों के सामने है, उसी को पूर्ण मानकर अदृष्ट या परोक्ष के अस्तित्व को नकारने या निरस्त करने का प्रयत्न क्या असत्य नहीं है? एकांगी दृष्टिकोण सदा असत्य होता है, फिर चाहे उसके द्वारा किसी वस्तु का समर्थन करे अथवा खण्डन करें।

कुछ लोग एकागी दृष्टिकोण से धर्म का समर्थन कर रहे है और कुछ लोग एकांगी दृष्टिकोण से उसका निरसन कर रहे है। मेरी दृष्टि मे वे दोनो ही यथार्थ से दूर है। यथार्थ का स्पर्श वह व्यक्ति कर सकता है जो ज्ञात सत्य को ज्ञात की भाषा मे, अनुभूति सत्य को अनुभव की भाषा मे और श्रुत सत्य को शास्त्र की भाषा में प्रतिपादित करे।

हमारा ज्ञान सीमित और परोक्ष है। इस स्थिति मे अज्ञात को अस्वीकार कर क्या हम सत्य के साथ न्याय कर सकते है? जब कभी जिस किसी व्यक्ति ने अपने अल्प-ज्ञान के आधार पर सत्य का दरवाजा बन्द किया है, उसने अपने-आपको असत्य की कारा में बन्दी बनाया है।

सत्य का शोधक बहुत ही विनम्र होता है। उसमें अज्ञात या अननुभूत के प्रति अभिनिवेश नहीं होता। वह सत्य की खिड़की को हमेशा खुला रखता है। क्या आज का कोई व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि मैने सब कुछ जान लिया। यदि कोई जानने वाला हो तो उसकी बात किसे मान्य नहीं होगी? यदि कोई वैसा व्यक्ति नहीं है तो वह कैसे यह दावा कर सकता है

कि मै सोचता हूं उससे भिन्न जो है वह सारा-का-सारा झूठ का पुलिदा है। वहुत सारे लोग इस भाषा में सोचते है। लगता है कि उनका सत्य मे रस नहीं है। उनका रस खण्डन और मण्डन से जुड़ा हुआ है। जिस व्यक्ति का रस खण्डन-मण्डन से जुड जाता है, सत्य उससे दूर भाग जाता है। सत्य की उपलब्धि के लिए बहुत शान्त, बहुत एकाग्र और बहुत ऋजु होना जरूरी है। ऐसा व्यक्ति आग्रह और अभिनिवेश से दूर रहकर सत्य के विशाल द्वार को उद्‌घाटित कर लेता है।

सत्य : शाश्वत और सामयिक

सत्य का अर्थ है—होना। जो है, वही सत्य है। जो नही है, वह सत्य नही है। कुछ वस्तुएं सदा होती है, और कुछ कभी-कभी। जो सदा होती है, उन्हें शाश्वत सत्य कहा जाता है और जो कभी-कभी होती है, उन्हें सामयिक सत्य कहा जाता है।

परमाणु शाश्वत सत्य है। स्कन्ध सामयिक सत्य है। स्कन्ध बनने से पहले भी परमाणु होता है और उसके विघटन के बाद भी परमाणु होता है। स्कन्ध के अस्तित्व-काल में भी परमाणु का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। उसका अस्तित्व तीनों कालो में होता है इसलिए वह शाश्वत सत्य है। शाश्वत सत्य यानी त्रैकालिक सत्य। स्कन्ध का अस्तित्व समूचे अतीत मे नही है और समूचे भविष्य में नहीं होगा किन्तु उनके मध्य में होगा। जो बात परमाणु के लिए है वही आत्मा आदि मूल तत्त्वों के लिए है। जितने मूल द्रव्य है, वे सब शाश्वत सत्य है और जितने पर्याय है वे सब सामयिक सत्य है।

तत्त्व की भांति साधना की व्याख्या भी इन दोनों नयों से की गयी है। आत्मा को जानना, आत्मा को देखना और आत्मा में रमण करना—यह साधना का शाश्वत नियम है। आत्म-बोध, आत्म-दर्शन और आत्म-रमण के लिए सहायक विधि-विधानों का निर्माण करना सामयिक नियम है। शाश्वत नियम सहज होता है, इसलिए वह परिवर्तनीय नहीं होता। सामयिक नियम देश-काल की उपयोगिता के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। मुनि दिन मे न सोए, यह एक नियम है। इस नियम की रचना का उद्देश्य है—प्रमाद से बचना, आत्मा के प्रति जागरूक रहना। किन्तु रुग्ण-अवस्था मे दिन मे सोया जा सकता है क्योकि वह सोना प्रमाद के लिए नही किन्तु शारीरिक विवशता

है। इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न नियमों का निर्माण होता है। वह परिस्थिति-सापेक्ष होने के कारण सामयिक सत्य की कोटि का होता है. त्रैकालिक नहीं होता।

जो लोग शाश्वत सत्य और सामयिक सत्य का विवेक नहीं कर पाते, वे उलझ जाते हैं। उनका दृष्टिकोण समीचीन नहीं रहता। वे परिवर्तनीय सत्य को अपरिवर्तनीय मानने लग जाते हैं। शाश्वत को सामयिक और सामयिक को शाश्वत मानना मिथ्या दृष्टिकोण है। सम्यग्-दर्शन के लिए इस विषय में सतर्क रहना बहुत जरूरी है।

सत्य का अणुव्रत

कुछ विचारकों का अभिमत है कि सत्य का अणुव्रत नहीं हो सकता। उसे टुकड़ों में बांटा नहीं जा सकता। हिंसा जीवन की अनिवार्यता है इसलिए अहिसा का अणुव्रत हो सकता है किन्तु असत्य जीवन की अनिवार्यता नही है अत. उसका अणुव्रत नहीं हो सकता।

महाव्रत और अणुव्रत का विभाग केवल अनिवार्यता के आधार पर ही नही होता। प्रमाद भी उनके विभाजन का मुख्य हेतु है। हर आदमी के लिए यह सम्भव नहीं कि वह सतत जागरूक रहे। जो सतत जागरूक नहीं रहता वह पूर्णतः सत्यवादी भी नही हो सकता। जहां प्रमाद आता है वहा असत्य भी आ ही जाता है। आदमी मजाक में झूठ बोल लेता है। वह झूठ बोलने के उद्देश्य से झूठ नहीं है, फिर भी झूठ तो है ही।

असत्य बोलने का दूसरा हेतु अशक्यता है। हर व्यक्ति में एक साथ इतनी क्षमता विकसित नही होती कि वह एक ही चरण में असत्य बोलना छोड दे। जिनमें इस प्रकार की क्षमता विकसित नहीं होती, वे असत्य-परिहार का क्रमिक अभ्यास करते है। पहले अमुक-अमुक प्रकार का असत्य बोलना छोडते है। फिर उससे सूक्ष्म असत्य बोलना छोड़ते है। फिर सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम। इस प्रकार अभ्यास करते-करते वे पूर्णत. सत्यवादी हो जाते है। यह क्रमिक अभ्यास की प्रक्रिया ही तो अणुव्रत है। यह प्रमाद से अप्रमाद की ओर जाने का उपक्रम है। यह अशक्यता से शक्यता को विकसित करने का उपक्रम है। वास्तव में यह सत्य का विभाजन नही किन्तु उसका क्रमिक विकास और अभ्यास है।

सत्य का व्रत लेने वाला सम्पूर्ण सत्य का व्रत ले, यही इष्ट है किन्तु

जो ऐसा न कर सके वह कम-से-कम संकल्पपूर्वक असत्य बोलना अवश्य छोड़े। फिर धीरे-धीरे प्रमाद और अशक्यता जनित असत्य बोलना भी छोड़े। इस प्रकार असत्य से सत्य की ओर गति सुलभ हो जाती है।

सत्य और ऋजुता दोनों साथ-साथ चलते हैं। ऋजुता का विकास हुए विना सत्य का विकास नहीं हो सकता। मानसिक ऋजुता संकल्प मात्र से एक ही क्षण मे प्राप्त होने जैसी वस्तु नहीं है। उसकी क्रमिक साधना है और वह दीर्घकालीन है। उसकी साधना ही वास्तव में सत्य की साधना है, इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर ही भगवान् महावीर ने सत्य के अणुव्रत का प्रतिपादन किया था।

अचौर्य की दिशा

हर वस्तु का अस्तित्व नैसर्गिक है। किन्तु उसका मूल्य उपयोगिता पर निर्भ है। वास्तव में वस्तु का उपयोग ही मूल्य है। समाज-रचना के आरम्भका में प्रश्न रहा कि वस्तु का उपयोग कौन करे ? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामित की व्यवस्था ने जन्म लिया। जो वस्तु जिसके स्वामित्व मे हो, वह उसव उपयोग करने का अधिकारी है। दूसरा व्यक्ति उसका उपयोग नहीं क सकता। क्योकि व्यक्तिगत अधिकार मे होने वाली वस्तु का जो चाहे व उपयोग नही कर सकता।

इस व्यक्तिगत स्वत्व और व्यक्तिगत उपयोग की व्यवस्था को समा ने मान्यता दी। कुछ लोग इस व्यवस्था का अतिक्रमण भी करते थे। दूसरो के अधिकार में होने वाली वस्तु को उठा लेते, अपने अधिकार मे लेते और उसका उपयोग करते। इस प्रवृत्ति को चोरी की संज्ञा मिली औ इसे बहुत ही हेय कार्य समझा गया।

दूसरे की वस्तु उठा लेना उसके अधिकार का हनन है। दूसरे की वस्तु को उठाने वाला उसके मन को चोट पहुंचाता है इसलिए चोरी हिसा है और हिंसा होने के कारण वह धार्मिक दृष्टि द्वारा भी त्याज्य है। अपने अधिकार और अपनी सीमा में रहना, यह धर्म की दिशा में जाने का प्रयत्न है। दूसरे के अधिकार का अपहरण और उसकी सीमा में जाने का प्रयत्न धर्म की प्रतिकूल दिशा है। इसीलिए हर धर्म के प्रवर्तक ने चोरी का निषेध कर अचौर्य-व्रत की स्थापना की। जैन तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित व्रत-व्यवस्था मे अचौर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पांच महाव्रतों में तीसरा महाव्रत अचौर्य है और पांच अणुव्रत में अचौर्य तीसरा अणुव्रत है।

व्रती मनुष्य दूसरे के स्वत्व का अपहरण नहीं करता क्योकि उसमें आत्मौपम्य का भाव प्रखर होता है। वह अपने मन की वृत्तियों की दूसरों की मानसिक वृत्तियों से तुलना करता है। वह जिन प्रवृत्तियों को अपने लिए इष्ट नही समझता, उन्हें दूसरो के लिए भी इष्ट नहीं समझता। अपने अधिकार या स्वत्व का अपहरण स्वय को प्रिय नहीं है तब दूसरों को वह कैसे प्रिय हो सकता है? इस आत्म-तुला के आधार पर वह अचौर्य की दिशा में प्रयाण करता है।

अप्रामाणिकता का उत्स

जिस दिन मनुष्य में अनधिकृत वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई उसी दिन उसमें अप्रामाणिकता का बीज अंकुरित हो गया। प्रामाणिकता क अर्थ है–अधिकृत का ग्रहण और अनधिकृत का प्रत्याख्यान। आकाक्षाशील मनुष्य इस मर्यादा को स्वीकार नही करता, इसलिए वह अप्रामाणिक हं जाता है।

अप्रामाणिकता अपने आप में चोरी है। वह वाणी की भी होती है चिन्तन और कर्म की भी होती है। सस्कृत साहित्य मे प्रामाणिक व्यक्ति व महात्मा और अप्रामाणिक व्यक्ति को दुरात्मा माना गया है। एक कवि लिखा है–

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

–जिस व्यक्ति के मन, वचन और कर्म में एकता होती है, सामंजस्य होता है, वह महान् आत्मा है। जिस व्यक्ति के मन, वचन और कर्म में विसगति या विसवाद होता है, वह दुरात्मा है।

मन, वाणी और कर्म की सगति प्रामाणिकता है और उनकी विसंगति अप्रामाणिकता है। प्रामाणिकता अचौर्य है और अप्रामाणिकता चोरी है। हमारे तत्त्व-चितकों ने कभी-कभी प्रामाणिकता की वहुत वडी कसौटी प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है–

यावद् भ्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति।।

—जितने से पेट भरे उतना ही मनुष्य के लिए अधिकृत है। उतना ही उसका स्वत्व है। शेष उसका नही है, दूसरों का है। जो व्यक्ति उससे अधिक अपने अधिकार में लेना चाहता है, वह चोर है, दण्ड का अधिकारी है।

प्रामाणिकता या अचौर्य की यह परिभाषा बहुत ही अन्तिम कोटि की परिभाषा है। इससे एक तथ्य स्पष्ट होता है कि अधिक संग्रह की दिशा मे गतिशील मनुष्य प्रामाणिक नहीं रह सकता। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते है कि प्रामाणिक व्यक्ति अधिक संग्रह नहीं कर सकता।

प्रामाणिकता का आचरण

स्वामी विवेकानन्द अमरीका गये। उनसे किसी अमरीकन ने पूछा–"महात्मा गांधी की विशेषता क्या है? क्या वे बहुत बड़े धनपति है या सत्ताधीश हैं?"

विवेकानन्द ने मुसकराकर कहा–"वे धन और सत्ता दोनो से अकिंचन है।"

"तो फिर उनकी क्या विशेषता है?" उस व्यक्ति ने पूछा।

विवेकानन्द ने कहा–"महात्मा गांधी में तीन विशेषताएं उन्हे भारतीय धर्म से प्राप्त हुई है। वे ये है–

१ प्रामाणिकता
२. सत्याग्रह
३. सादगी।

इन तीनो में पहली विशेषता प्रामाणिकता है। हर व्यक्ति, समाज या देश के चरित्र की ऊंचाई का मानदण्ड प्रामाणिकता से होता है। हिन्दुस्तान अपने अतीत में इस मानदण्ड से बहुत उन्नत रहा। लगभग पच्चीस सौ वर्ष पहले की घटना है–एक साहूकार मकान बनवा रहा था। उसकी नीव खुद रही थी। मजदूरों ने आश्चर्य के साथ देखा कि नींव की खुदाई मे कोई चीज चमक रही है। उन्होंने थोड़ी खुदाई और की तथा साफ-साफ देखा कि एक बड़े पात्र मे स्वर्ण-मुद्राएं भरी पड़ी हैं। वे तत्काल दौड़े और मुख्य चेजारे (गृह-शिल्पी) के पास पहुंचे। स्वर्ण-मुद्रा के पात्र की बात उसे बतलाई। उसने गृहस्वामी से कहा और गृहस्वामी ने राजा से। मजदूर चाहते तो उस

पात्र को हडप लेते और चेजारा चाहता तो दोनों मिलकर हड़प लेते। सेठ चाहता तो तीनो मिलकर बांट लेते। राजा तक बात पहुंचती ही नहीं। राजा चाहता तो अकेला ही उस पर अधिकार कर लेता और किसी को कुछ नही देता। किन्तु मजदूरों ने कहा–"इस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। इस पर गृह-शिल्पी का अधिकार हो सकता है।"

गृह-शिल्पी ने कहा–"इस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यह भूमि मकान-मालिक की है। इस पर उसी का अधिकार हो सकता है।"

गृहस्वामी ने कहा–"भूमि से निकली हुई चीज पर राजा का ही अधिकार हो सकता है।"

राजा ने भी उस पर अपना अधिकार स्वीकार नहीं किया। क्योंकि उसकी खुदाई बहुत गहरी नही थी और वह व्यक्तिगत भूमि थी। फलतः कोई भी उसे लेने को तैयार नहीं हुआ।

प्रामाणिकता के आचरण का यह कितना बड़ा उदाहरण है! 'जिस पर मेरा अधिकार नहीं, उसे मै नहीं ले सकता,' यह कहकर स्वर्ण-मुद्राओ को ठुकराने वाले मजदूर, गृह-शिल्पी, साहूकार और राजा इसी भारत की मिट्टी मे उत्पन्न हुए थे।

अचौर्य की कसौटी

प्रामाणिकता अचौर्य की कसौटी है। जो आचरण प्रामाणिकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, वह अचौर्य नहीं हो सकता। चोरी का अर्थ दूसरे की वस्तु को चुरा लेना मात्र नहीं है। अप्रामाणिकता का आचरण भी चोरी है। वह मनुष्य को चोरी की दिशा में गतिशील बनाये रखता है। एक आदमी मिलावट कर बेचता है। वह सीधे अर्थ में दूसरे की वस्तु चुराता नहीं है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह चोरी नहीं है। यह चोरी का ही प्रकार है क्योंकि मिलावट कर बेचने वाला ग्राहक को वही चीज नहीं देता जो वह पैसे के बदले में लेना चाहता है। किन्तु वह चीज भी देता है जो वह पैसे के बदले में लेना नहीं चाहता। इस प्रकार मिलावट करने वाला प्रकारान्तर से ग्राहक का धन चुराता है।

अचौर्य व्रत को स्वीकार करने वाला व्यक्ति मिलावट नहीं कर सकता।

असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु देने वाला भी चोरी के दोष से बच नहीं सकता। वह भी मिलावट करने वाले की भांति ग्राहक के धन को प्रकारान्तर से चुराता ही है।

कूटतोल और कूटमाप करने वाला भी इसी प्रकार का आचरण करता है। अधिक पैसा लेना और बदले में कम वस्तु देना, इसे चोरी कैसे नहीं माना जाए?

चोर को चोरी करने में प्रेरित करना और सहयोग देना भी चोरी का एक अंग है।

उक्त कोटि के आचरण प्रामाणिकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते इसीलिए ये सभी चोरी के अंग हैं। प्रामाणिक व्यक्ति ऐसा कोई भी आचरण नही कर सकता जो प्रत्यक्ष में विश्वसनीय हो और परोक्ष में विश्वासघाती हो।

विश्वास प्रामाणिकता का मुख्य फल है। जैसे असत्य बोलने वाले का लोग विश्वास नहीं करते वैसे ही अप्रामाणिक आचरण करने वाले का लोग विश्वास नहीं करते। भगवान् महावीर ने प्रामाणिकता को बहुत महत्त्व दिया है। कोई मुनि गृहस्थ के घर से कैंची लाये और यह कहकर लाये कि मै नाखून काटने के लिए ले जा रहा हूं तो वह उससे कपड़ा नहीं काट सकता। यह प्रामाणिकता का ज्वलन्त निदर्शन है। जीवन में जैसे-जैसे उसका विकास होता है वैसे-वैसे चोरी की वृत्ति अपने-आप विलीन हो जाती है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य अहिसा के प्रासाद का सिहद्वार है। जिस व्यक्ति की इन्द्रिया संयत नहीं होतीं, मन सयत नहीं होता और वृत्तियां सयत नही होतीं, वह असिंहक नहीं हो सकता। जो अहिसक नहीं हो सकता, वह ब्रह्मचारी भी नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है–इन्द्रिय, मन, वृत्ति और वस्ति का संयम। दूसरे शब्दो मे आत्मलीनता। व्यक्ति जैसे-जैसे आत्मलीन होता है, वैसे-वैसे उसकी इन्द्रियां और मन संयत होते है।

कुछ लोगो का अभिमत है कि अब्रह्मचर्य शरीर की क्रिया है इसलिए यह स्वाभाविक है।

अब्रह्मचर्य का शरीर की क्रिया से सम्बन्ध है, यह स्थूल दृष्टि से माना जा सकता है। किन्तु वह मात्र शारीरिक क्रिया है, ऐसा मानना भ्रान्तिपूर्ण है। वास्तव मे वह सस्कारो की प्रतिक्रिया है। जिस व्यक्ति में मोह के संस्कार प्रबल होते है उसमें कामवासना के सस्कार जागृत होते है।

कामवासना का मूल स्रोत मोह का संस्कार है, शरीर नहीं। शरीर और मन उसकी अभिव्यक्ति के साधन है। इसलिए गहरे में जाने पर यह नही माना जा सकता कि अब्रह्मचर्य शरीर की क्रिया है। क्योंकि शरीर के साथ उसका निश्चित सम्बन्ध नहीं है। शारीरिक सम्पन्नता होने पर भी मनुष्य ब्रह्मचारी रह सकता है। कितु मोह सस्कार के प्रबल होने पर वह ब्रह्मचारी नहीं रह सकता। जो कोई व्यक्ति ब्रह्मचारी होता है वह शरीरधारी ही होता है किन्तु इन्द्रिय और मन पर पड़ने वाली मोह संस्कार की काली छाया को दूर किये विना कोई भी ब्रह्मचारी नहीं हो सकता।

जैन परंपरा में जम्बूकुमार, स्थूलिभद्र, विजयकुमार और सुदर्शन—ये चारो व्यक्ति ब्रह्मचर्य की निष्ठा में बहुचर्चित हैं। ये सब शरीरधारी थे, स्वस्थ शारीरिक क्रिया से सम्पन्न थे। जम्बूकुमार की नवविवाहिता पत्नियों ने मोहक हाव-भाव और विलास का प्रदर्शन किया पर जम्बूकुमार का युवक मन एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं हुआ। वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहे और अन्ततः अपने ध्येय में सफल हो गए। पत्नियों ने उनका अनुसरण किया। इसका हेतु मोह संस्कार का क्षीण होना ही है।

मोह-विलय की साधना

स्थूलिभद्र युवक हो गये, फिर भी उनके मोह-संस्कार जागृत नहीं हुए। उनके पिता सम्राट नन्द के अमात्य थे। वे अपने पुत्र की अनासक्ति से चिन्तित रहने लगे। एक बार उन्होंने स्थूलिभद्र को कोशा वेश्या के पास भेजा और उसने स्थूलिभद्र की कामवृत्ति जागृत कर दी। वे बारह वर्ष तक वेश्या के संग रहे। फिर घर आ गये।

कुछ वर्षो बाद स्थूलिभद्र मुनि बने। वे साधना में परिपक्व होकर आचार्य भद्रबाहु के पास गये। कोशा के घर चातुर्मास्य बिताने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकृत हो गयी। वे कोशा के घर में रहे। वर्षा ऋतु, सरस भोजन और कोशा का अनुरागपूर्ण प्रयत्न, फिर भी स्थूलिभद्र की काम-वृत्ति पलभर के लिए भी उद्दीप्त नहीं हुई। इसका हेतु मोह-संस्कार का क्षीण होना ही है।

सिह गुफा में चातुर्मास्य बिताने वाले मुनि ने उनके आचरण की स्पर्धा की और गुरु की अनिच्छा-स्वीकृति प्राप्त कर कोशा के घर गये। पर वह स्थूलिभद्र से ब्रह्मचर्य का व्रत स्वीकार कर चुकी थी। वहां उनकी कसौटी नहीं हो सकती थी इसलिए वे उपकोशा के घर जाकर रहे।

उपकोशा ने मुनि की भावना को समझ लिया। स्थूलिभद्र से की गयी स्पर्धा उससे छिपी नही रही। उसने परीक्षा का थोड़ा-सा अवसर लिया। मुनि उसमें अनुत्तीर्ण हो गये। इसका हेतु मोह-संस्कार का जागृत होना है।

विजय कुमार ने विवाह से पूर्व कृष्ण पाक्षिक ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था और कुमारी विजया ने शुक्ल पाक्षिक ब्रह्मचर्य का व्रत। संयोग की बात थी कि दोनों विवाह-सूत्र में बंध गये। दोनों में हार्दिक प्रेम, पूर्ण सम्पन्नता,

सब प्रकार की अनुकूलता, फिर भी दोनों आजीवन ब्रह्मचारी रहे। इसका हेतु मोह-संस्कार का शांत होना है।

रानी अभया ने सुदर्शन को विचलित करने का प्रयत्न किया पर वह विचलित नहीं हुआ। रानी की इच्छा-पूर्ति न होने के कारण उसे कठिनाइयां झेलनी पड़ीं, फिर भी वह प्रकम्पित नहीं हुआ, भयभीत नहीं हुआ। इस स्थिरता का हेतु और क्या है? वही है, मोह-संस्कार का शांत होना।

यह स्पष्ट है कि जिन लोगों ने मोह संस्कार को शांत करने का प्रयत्न किया है, वे ब्रह्मचर्य में सफल हुए है और जिन लोगों ने मोह की चिकित्सा नही की, उन्हें काम-रोग सताता रहा।

ब्रह्मचर्य और उन्माद

कुछ मानसशास्त्री कहते है कि कामवासना मनुष्य की सहज मनोवृत्ति है। उसे रोकने से मनुष्य में पागलपन आ जाता है। इस मान्यता के आधार पर वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के पक्ष में नहीं है। क्या यह सिद्धान्त सही है?

मानसशास्त्री जो कहते है वह सर्वथा निराधार है, यह नहीं कहा ज सकता। कुछ लोग परिस्थिति की बाध्यता में ब्रह्मचर्य से बचते है। उनमे इंद्रिय और मन का संयम नहीं है, वृत्तियों का संयम नहीं है। उनकी वासनाएं क्षीण नहीं है। ब्रह्मचर्य के प्रति उनका आकर्षण नही है। उससे विकसित होने वाली शक्तियों के प्रति उनका लगाव नहीं है। उन्हें सहज आनन्द की अनुभूति नही है। उनका ब्रह्मचर्य यथार्थ में ब्रह्मचर्य नहीं है अन्तर् में वासना का प्रज्चलन और बाहर में वासना पर परिस्थिति की राख का आवरण–इस स्थिति में तथाकथित ब्रह्मचारी यदि पागल होते है तो उसमे आश्चर्य क्या है? ऐसे ब्रह्मचारी लोगों के जीवन का आकलन कर ही मानसशास्त्रियों ने उक्त निष्कर्ष निकाला है, इसलिए इसे मिथ्या कैसे कहा जाए?

किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में पीड़ा हो और वह लज्जावश न रो सके उस स्थिति मे उसके मानस में तनाव बढ़ता है तथा शारीरिक और मानसिक विकृतियां उभरती हैं। कितु भीतर में पीड़ा की अनुभूति न हो तब कोई न रोये, उस स्थिति में उन विकृतियों की संभावना नहीं की जा सकती।

सरदारशहर वासी सुमेरमलजी दूगड़ बहुत ही समभावी व्यक्ति है। उनके अत्यन्त होनहार पुत्र भंवरलाल दूगड़ का आकस्मिक दुर्घटना में देहावसान हो गया। उसका संवाद पाकर सरदारशहर के हजारो आदमियों

ने आंसू बहाए पर सुमेरमलजी ने आंसू नहीं बहाए। एक डॉक्टर ने उन्हें परामर्श दिया कि आप एक बार खुलकर रो लें जिससे मानसिक तनाव और उससे उत्पन्न होने वाली बीमारियां सताएं नहीं। उन्होंने उत्तर में कहा–"मैं संसार के स्वरूप को समझता हूं, जन्म और मृत्यु की अनिवार्यता को समझता हूं इसलिए मेरे मन में कोई दुःख नहीं है, पीड़ा की अनुभूति नही है, फिर मै रोकर किस दर्द को हल्का करू?"

इस घटना के संदर्भ मे यह समझा जा सकता है कि आंतरिक पीड़ा न होने पर न रोना पागलपन नहीं लाता, वैसे तो आंतरिक कामवासना प्रदीप्त न होने पर भोग का आसेवन न करना भी पागलपन नहीं लाता। भीतर मे पीड़ा हो और आंसुओं को रोके तब मानसिक विकृति की संभावना हो जाती है। भीतर में वासना का ज्वार हो और इन्द्रियों को बलात् रोकें, उस स्थिति में पागलपन की संभावना हो सकती है किंतु अब्रह्मचर्य की तुलना मे अधिक सुख की अनुभूति का सृजन करने वाला पागल नहीं होता। वह शक्ति-स्रोत का उद्घाटन करने वाला होता है।

इन्द्रिय और अतीन्द्रिय का सुख

सुख और दु.ख का द्वन्द्व अनादिकाल से चला आ रहा है। मनुष्य दुःख को छोडना और सुख को पाना चाहता है। इद्रिय-विषयों का सेवन मनुष्य को सुख देता है इसीलिए वह उनका संग्रह करता है। जब मनुष्य दु.ख से ऊबकर सुख की अनुभूति चाहता है तब उसके सामने पहला मार्ग इन्द्रिय-विषयों के आसेवन का है।

यह कहा जाता है कि इन्द्रिय-विषयों का सेवन सुख नही है, वह दुःख है। यह दृष्टिकोण सूक्ष्म भूमिका का है। स्थूल भूमिका में यह नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रिय-विषयों का आसेवन सुख नही है। भगवान् महावीर ने कर्मभोगों को अल्पकालीन सुख कहा है–

'खणमित्तसोक्खा'

कामभोग यदि सुख है तो फिर उन्हे छोडने की बात क्यो कही जाती है? इसका उत्तर बहुत सीधा है। कामभोग को छोड़ने की बात उसी स्तर पर कही जाती है जब उनसे बड़ा सुख सामने दिखाई देता है। विराट् सुख वह होता है जो वर्तमान मे सुख हो और परिणाम मे भी सुख हो। कामभोग वर्तमान मे सुखद हैं, किन्तु परिणाम मे सुखद नही हैं। वे विराट् सुख की प्राप्ति में अवरोध है, बाधक है। जिस व्यक्ति मे विराट् सुख को प्राप्त करने की भावना जागृत हो जाती है, उसे कामभोग के सुख विडंबना जैसे लगते है। खिलौने के लिए वनी हुई मोटर बच्चे के लिए आकर्षक हो सकती है किंतु यात्रा करने वालो को वह आकृष्ट नही कर सकती। जिसके सामने विशाल और विराट् की परिकल्पना है, उपलब्धि की संभावना खुली है, वे खिलौनों को महत्त्व नहीं दे सकते।

ब्रह्मचर्य की ओर

कामवासना मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति मानी जाती है। वह सूक्ष्म रूप मे मनुष्य मे विद्यमान रहती है। उसकी अभिव्यक्ति सामाजिक व्यवस्थाओ, परिस्थितियों और संयोगों के अनुरूप होती है। जब सामाजिक जीवन का प्रारम्भ नही हुआ था तब विवाह की पद्धति चालू नहीं थी। समाज की व्यवस्था होने पर विवाह-पद्धति की स्थापना हुई। यह उन्मुक्त कामभोग को नियन्त्रित करने की दिशा में पहला चरण था। इससे कामवासना के प्रयोग का क्षेत्र सीमित हो गया। विवाहित स्त्री या पुरुष के अतिरिक्त शेष सब स्त्रियो और पुरुषों के प्रति वासना का प्रयोग निषिद्ध हो गया।

समय की लम्बी अवधि मे विवाह के रूप बदलते रहे। कुछ देशो औ युगो में बहुपत्नी की प्रथा रही है। पत्नियों की सख्या अधिक होना गौरव क विषय माना जाता था। क्वचित् बहुपति प्रथा भी रही है।

विवाह की पद्धति विशुद्ध अर्थ मे सामाजिक सस्कार है, फिर भी ध सस्था ने इसका विरोध नहीं किया अपितु प्रकारान्तर से इसके पीछे रही हु दृष्टि का समर्थन किया। धर्म सस्था को पूर्ण ब्रह्मचर्य मान्य है। वह संभ न हो उस स्थिति मे विवाहित स्त्री-पुरुष के अतिरिक्त दूसरो के साथ ब्रह्मच का सम्बन्ध रहे, यह इष्ट है। विवाह संस्था का दृष्टिकोण भी विवाह के पी यह रहा है, इसलिए इसका धर्म सस्था द्वारा अनुमोदन करना स्वाभाविक था। अब्रह्मचर्य के प्रति धार्मिक तत्त्ववेत्ताओ का अभिमत यह रहा कामवासना के विष को सर्प-विष की भाति बाहर निकाला जा सकता है पुराने जमाने की पद्धति है कि सर्प के काट खाने पर विष-वैद्य समूचे शरी में फैले हुए विष को एक अवयव पर केंद्रित कर देता, फिर उसे बा

निकाल फेकता। 'स्वदार' या 'स्वपति' संतोष अणुव्रत का विधान इसी प्रक्रिया से हुआ। जो व्यक्ति स्वदार मे सतोष करता है वह समूचे स्त्री जगत् के प्रति फैली हुई कामवासना को विवाहित पत्नी में केंद्रित कर देता है। फिर वह प्रयत्न करते-करते उसे निरस्त कर देता है। इस प्रकार अब्रह्मचर्य से विरत होकर ब्रह्मचर्य के बिन्दु पर पहुच जाता है।

वहुपत्नी-प्रथा की अपेक्षा एकपत्नी-प्रथा का औचित्य अधिक बुद्धिगम्य रहा है। प्राचीन काल में वह व्यापक रूप में रही है। वर्तमान व्यवस्था में वहुतपत्नी-प्रथा निषिद्ध है। इसे वासना-नियमन के क्षेत्र में विकास ही कहा जाएगा। ब्रह्मचर्य की साधना मे सामाजिक व्यवस्था का औचित्य भी सहायक होता है।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा

ब्रह्मचर्य जितना श्रेष्ठ है, उतना ही उसका अनुशीलन जटिल है। वह अपने आप सिद्ध होने वाला देव नही है। उसकी सिद्धि के लिए निरन्तर अन्तरंग और बहिरग दोनो प्रकार की साधना करनी होती है। काम-सस्कार के शोधन के लिए अन्तरग साधना और उसका उद्दीपन न हो इसके लिए बहिरंग साधना। बाह्य निमित्तों से बचाव और अन्त.करण की निर्मलता–चित्त की पवित्रता, ये दोनो मिलकर ब्रह्मचर्य की साधना को पूर्ण बनाते है।

भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य के शस्य की सुरक्षा के लिए नौ बाडो और एक कोट का विधान किया है–

१ स्थान विशुद्धि–एकांत व ब्रह्मचर्य के उपयुक्त स्थान।
२ विकथा वर्जन–काम आदि की कथा मे लिप्त न होना।
३ एकासन वर्जन–विरोधी लिग के साथ एक आसन पर नही बैठना।
४ दृष्टि-सयम।
५ श्रुति-सयम।
६ स्मृति-संयम–भुक्त भोग की स्मृति न करना।
७ स्वाद-सयम।
८ खाद्य-संयम–अतिमात्र भोजन न करना।
९ विभूषा-वर्जन।
१० इन्द्रिय-विषयो के प्रति अनासक्ति।

मनुष्य के मन में छिपी हुई कामवासना उत्तेजित न हो, इस दृष्टि से वाड और कोट का विधान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। चित्त-शुद्धि की प्रक्रिया

कामवासना के निर्मूलन की प्रक्रिया है।

किवाड बन्द कर देने का अर्थ बाहर से आने वाली धूलि को रोकना हो सकता है किन्तु मकान के भीतर रही हुई धूलि का शोधन नही हो सकता। उसके शोधन की प्रक्रिया अलग है। कामवासना के संस्कारों का शोधन बाहरी दरवाजों को बन्द कर देने से नहीं होता। वासना का मूलबीज है—मूर्च्छा। वह जैसे-जैसे सघन होती है वैसे-वैसे मनुष्य मे काम-संस्कार घनीभूत हो जाते है। काम-संस्कारों को उन्मूलित करने का अर्थ है—मूर्च्छा को निर्मूलित करना। इस उन्मूलन के लिए भगवान् महावीर ने दस साधन प्रतिपादित किए है—

१ सम्यग्-दर्शन आत्म-दर्शन।
२ अन्यत्व भावना, भेद विज्ञान—आत्मा और शरीर की भिन्नता का स्पष्ट बोध।
३ एकत्व भावना—अकेलेपन की अनुप्रेक्षा।
४ अनित्य भावना—संयोग-वियोग की अनुप्रेक्षा।
५ अशरण भावना—बाह्य वस्तु मे असुरक्षा की अनुप्रेक्षा।
६. अशौच भावना—शरीर के अशुचि-स्वरूप की अनुप्रेक्षा।
७. कायोत्सर्ग—कायिक तनाव का विसर्जन।
८ स्वाध्याय—आत्म-केन्द्रित वस्तु पर्यायो का अध्ययन।
९ ध्यान—कायगुप्ति, वाक्गुप्ति और मनोगुप्ति।
१० अप्रमाद—सतत जागरूकता।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा

ब्रह्मचर्य जितना श्रेष्ठ है, उतना ही उसका अनुशीलन जटिल है। वह अपने आप सिद्ध होने वाला देव नही है। उसकी सिद्धि के लिए निरन्तर अन्तरंग और बहिरग दोनों प्रकार की साधना करनी होती है। काम-सस्कार के शोधन के लिए अन्तरग साधना और उसका उद्दीपन न हो इसके लिए बहिरग साधना। बाह्य निमित्तों से बचाव और अन्त.करण की निर्मलता–चित्त की पवित्रता, ये दोनो मिलकर ब्रह्मचर्य की साधना को पूर्ण बनाते है।

भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य के शस्य की सुरक्षा के लिए नौ बाडो और एक कोट का विधान किया है–

१ स्थान विशुद्धि–एकात व ब्रह्मचर्य के उपयुक्त स्थान।
२ विकथा वर्जन–काम आदि की कथा मे लिप्त न होना।
३ एकासन वर्जन–विरोधी लिग के साथ एक आसन पर नही बैठना।
४ दृष्टि-सयम।
५ श्रुति-सयम।
६ स्मृति-सयम–भुक्त भोग की स्मृति न करना।
७ स्वाद-सयम।
८ खाद्य-सयम–अतिमात्र भोजन न करना।
९ विभूषा-वर्जन।
१० इन्द्रिय-विषयो के प्रति अनासक्ति।

मनुष्य के मन में छिपी हुई कामवासना उत्तेजित न हो, इस दृष्टि से वाड और कोट का विधान वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। चित्त-शुद्धि की प्रक्रिया

कामवासना के निर्मूलन की प्रक्रिया है।

किवाड बन्द कर देने का अर्थ बाहर से आने वाली धूलि को रोकना हो सकता है किन्तु मकान के भीतर रही हुई धूलि का शोधन नहीं हो सकता। उसके शोधन की प्रक्रिया अलग है। कामवासना के संस्कारों का शोधन बाहरी दरवाजों को बन्द कर देने से नहीं होता। वासना का मूलबीज है–मूर्च्छा। वह जैसे-जैसे सघन होती है वैसे-वैसे मनुष्य में काम-संस्कार घनीभूत हो जाते है। काम-संस्कारों को उन्मूलित करने का अर्थ है–मूर्च्छा को निर्मूलित करना। इस उन्मूलन के लिए भगवान् महावीर ने दस साधन प्रतिपादित किए है–

१ सम्यग्-दर्शन आत्म-दर्शन।

२. अन्यत्व भावना, भेद विज्ञान–आत्मा और शरीर की भिन्नता का स्पष्ट बोध।

३ एकत्व भावना–अकेलेपन की अनुप्रेक्षा।

४ अनित्य भावना–सयोग-वियोग की अनुप्रेक्षा।

५ अशरण भावना–बाह्य वस्तु मे असुरक्षा की अनुप्रेक्षा।

६. अशौच भावना–शरीर के अशुचि-स्वरूप की अनुप्रेक्षा।

७ कायोत्सर्ग–कायिक तनाव का विसर्जन।

८. स्वाध्याय–आत्म-केन्द्रित वस्तु पर्यायो का अध्ययन।

९. ध्यान–कायगुप्ति, वाक्गुप्ति और मनोगुप्ति।

१०. अप्रमाद–सतत जागरूकता।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

इन्द्रिय और मन के विकेन्द्रित होने का अर्थ है–मनुष्य की शक्ति का विकेन्द्रित होना। उनके केन्द्रित होने का अर्थ है–शक्ति का केन्द्रित होना। पदार्थ या व्यक्ति के प्रति हमारी आसक्ति होती है, तब शक्ति पर आवरण आता है। उनके प्रति अनासक्ति होते ही वह आवरण हट जाता है। ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा फल है–अनासक्ति या अनासक्ति का बहुत बडा फल अनासक्ति है–ब्रह्मचर्य। जैसे-जैसे विकसित होती है वैसे-वैसे ब्रह्मचर्य विकसित होता है और जैसे-जैसे बह्मचर्य विकसित होता है वैसे-वैसे अनासक्ति विकसित होती है।

मन जितना कामवासना मे उलझता है उतना ही उसका संकल्प दुर्बल होता है। वह जितना स्थिर-शांत रहता है उतना ही संकल्प प्रबल होता है।

वीर्य क्षीण होने से चित्त की चंचलता बढ़ती है और जब वह ओज रूप मे बदल जाता है तब चित्त स्थिर और शात होता है। धृति, तितिक्षा, शाति, मैत्री और प्रतिभा की कुशाग्रीयता–ये स्थिर-शात चित्त में ही जन्म लेते है। उदाहरण के रूप मे कुछ नाम पहले प्रस्तुत किये जा चुके है। उसी शृखला में आचार्य हेमचन्द, आचार्य शंकर और स्वामी दयानन्द के नाम उल्लिखित किए जा सकते है।

शारीरिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का कम महत्त्व नही है। भोग-काल मे श्वास की गति सामान्य स्थिति से चौगुनी हो जाती है। उससे स्वास्थ्य और दीर्घायु दोनों प्रभावित होते हैं। इसलिए आयुर्वेद मे अब्रह्मचर्य को अनायुष्य और ब्रह्मचर्य को आयुष्य कहा गया है। वर्तमान चिकित्सक पचास वर्ष की आयु के बाद ब्रह्मचारी रहने में अधिक लाभ की संभावना निरूपण करते है।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था मे पचास वर्ष के बाद वानप्रस्थ आश्रम का विधान किया गया है। उसके पीछे भी संभव है यह दृष्टि रही हो।

इस प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से ब्रह्मचर्य का महत्त्व असंदिग्ध है। भगवान् महावीर ने इसे संभवतः सर्वाधिक महत्त्व दिया है। भगवान् ने कहा–

एए य संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा।।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा।।

–"जो मनुष्य स्त्री-विषय आसक्तियो का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तिया वैसे ही सुतर (सुख से पार पाने योग्य) हो जाती है जैसे महासागर का पार पाने वाले के लिए गंगा जैसी बडी नदी।"

भगवान् की वाणी के समर्थन में उन्हीं की परम्परा के एक आचार्य ने लिखा है–

जई मोणी जई झाणी जइ वक्कली तवस्सी वा।
पत्थंतो य अबंभं बंभा वि न रोयए मज्झं।।

–कोई व्यक्ति चाहे मौनी हो या ध्यानी, वल्कल पहनने वाला हो या तपस्वी, यदि वह अब्रह्मचर्य की इच्छा करता है तो साक्षात् ब्रह्मा होने पर भी मुझे अच्छा नही लगता।

परिग्रह का मूल

मनुष्य मे जिजीविषा है—जीने की इच्छा है और उसमे कामना है। इन दो
की पूर्ति के लिए वस्तुएं आवश्यक होती है। आगे चलकर आवश्यकता स्व
कामना बन जाती है। कामना में विलीन हो जाती है। इस पृष्ठभूमि
परिग्रह या सग्रह का जन्म होता है।

संग्रह या परिग्रह हिसा से भिन्न नही है। जहां सग्रह है, वहां निश्चित
हिसा है। जहां परिग्रह है, वहां निश्चित हिंसा है। परिग्रह हिसा का ही एक
रूप है, किन्तु इतना बड़ा रूप है कि उसका अस्तित्व बहुत शक्तिशाली हो
गया है। इसीलिए हिसा और परिग्रह एक युगल बना हुआ है। भगवान्
महावीर ने कहा है—जो व्यक्ति हिसा और परिग्रह को नहीं छोडता वह धर्म
नही सुन पाता, सम्यग्दृष्टि नहीं होता और धर्म का आचरण नही कर पाता।
इस सिद्धात मे बहुत सचाई है। परिग्रह का आशय समझने पर वह स्वयं
प्रकट हो जाती है।

परिग्रह का मूल कहां है? यह खोज लम्बे समय तक चलती रहती है।
भिन्न-भिन्न तत्त्ववेत्ताओं ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए है। भगवान्
महावीर का विचार है कि परिग्रह का मूल मूर्च्छा है, आसक्ति है। वस्तु
परिग्रह हो सकती है किन्तु वह परिग्रह का मूल नही है। वह मूर्च्छा से जुड़कर
ही परिग्रह बनती है। मूर्च्छा अपने-आप मे परिग्रह है चाहे वस्तु हो या न हो।
वस्तु अपने-आप में परिग्रह नहीं है। वह मूर्च्छा द्वारा संगृहीत होकर परिग्रह
बनती है। मूर्च्छा के होने पर संगृहीत वस्तु भी परिग्रह बनती है इसलिए
परिग्रह के दो आकार बन जाते है—भीतरी और बाहरी। मूर्च्छा भीतरी
परिग्रह और मूर्च्छा द्वारा संगृहीत वस्तु बाहरी परिग्रह है।

साधारणतया परिग्रह छोडने मे वस्तु छोड़ने को प्राथमिकता दी जाती है जबकि प्राथमिकता दी जानी चाहिए मूर्च्छा छोडने को। वस्तु छूटती है और मूर्च्छा नही छूटती है, कोरा बाहरी आकार कम होता है। मूर्च्छा छूटती है और बाहरी वस्तु नही छूटती, फिर भी परिग्रह छूट जाता है। सच्चाई यह है कि मूर्च्छा छूटने पर वस्तु का संग्रह हो ही नहीं सकता। जीवन चलाने भर कुछ लिया जा सकता है किन्तु संग्रह या संचय जैसी वृत्ति को उभरने का अवकाश ही नहीं मिल पाता। कठिनाई यह है कि बहुत सारे लोग मूल रोग की चिकित्सा नही करते। चिकित्सा करते है उसके परिणाम की। वस्तु-संग्रह की चिकित्सा मूल रोग की चिकित्सा नहीं है। यह बहुत स्थूल बात है और समाजवाद इस स्थूल बात को ही महत्त्व दे रहा है। धर्म के लिए यह अनादृत नही है किन्तु पर्याप्त भी नही है इसलिए वह मूर्च्छा रोग की चिकित्सा पर अधिक बल देता है। आसक्ति की ग्रन्थि को खोलने का अधिक प्रयत्न करता है। उसके खुल जाने पर सग्रह का इलाज अपने आप हो जाता है।

अपरिग्रही चेतना का विकास

जहा देह है वहा वस्तु का उपभोग होता ही है। देह छूटता नहीं है और वस्तु का उपभोग किए बिना वह रहता नहीं है इसलिए वस्तु का उपभोग अनिवार्य हो जाता है। यदि वस्तु और उसका उपभोग ही परिग्रह हो तो कोई अपरिग्रही हो ही नही सकता। दूसरी बात यह है कि केवल वस्तु पास में न होने या न रखने मात्र से कोई अपरिग्रही नही होता। अपरिग्रही वह होता है जिसमे अपरिग्रह की चेतना विकसित हो जाती है।

अपरिग्रह की चेतना का विकास एकत्व की भावना उदित होने पर होता है। जो व्यक्ति वस्तुओं के संयोग और वियोग के सिद्धांत को जानता है, वह जानता है कि आत्मा अकेली है, उसके अधिकार मे जितने पदार्थ है वे सब सयुक्त है, एकत्र किए हुए हैं, सगृहीत है, उससे भिन्न है और निश्चित रूप से एक दिन वियुक्त हो जाने वाले है **'संयोगा विप्रयोगांताः'**—सयोग की अन्तिम परिणति वियोग है। यह ध्रुव सत्य है। इस एकत्व भावना से ममकार का विसर्जन और अपरिग्रह की चेतना फलित होती है।

एक भिखारी के पास कुछ भी नही है और एक चक्रवर्ती के पास बहुत कुछ है। भगवान् महावीर से पूछा गया—'भंते! क्या वह भिखारी अपरिग्रही है और क्या वह चक्रवर्ती बहुपरिग्रही है?'' भगवान् ने कहा—''आकाक्षा की दृष्टि से भिखारी और चक्रवर्ती दोनो परिग्रही है। भिखारी के पास वस्तुएं नहीं है पर उन्हें पाने की आकाक्षा चक्रवर्ती से कम नही है। अपरिग्रही वह होता है जिसकी आकांक्षा विसर्जित हो जाती है। भगवान् ने उस व्यक्ति को त्यागी नही कहा जो विवशता मे भोग का उपभोग नही कर पा रहा हो—

समाजवाद और अपरिग्रह

अपरिग्रह का सिद्धात बहुत पुराना है। समाजवाद की स्थापना इन दो-चार शताब्दियो मे हुई है। अपरिग्रह के सिद्धान्त का उद्देश्य है—मनुष्य की मूर्च्छा को भग करना, व्यक्तिगत सग्रह को व्यवस्था द्वारा नियन्त्रित करना। अपरिग्रह अन्त.करण की स्वतन्त्रता का प्रश्न है और समाजवाद व्यवस्था का प्रश्न है। जहा व्यवस्था या कानून का बल होता है वहां दंडशक्ति का प्रयोग होता है इसलिए व्यवस्था की बात प्रत्यक्ष में सबको माननी पडती है। अपरिग्रह का स्वीकार ऐच्छिक है, भावना का प्रश्न है इसलिए वह अनिवार्य नही है और जो अनिवार्य नहीं होता वह सबके लिए मान्य भी नहीं होता। कितना अच्छा होता यदि समाजवाद अपरिग्रह की चेतना का फलित होता।

समाजवाद और साम्यवाद असंग्रह के व्यावहारिक फलित है, इसमे कोई सन्देह नहीं है। असग्रह के आधार पर यदि कोई सामाजिक व्यवस्था होती है तो उसका रूप इनसे भिन्न क्या होगा? किन्तु उनकी व्यवस्था मे अध्यात्म को स्थान नहीं मिला इसलिए वे असंग्रह के व्यावहारिक फलित हुए किन्तु असंग्रह की चेतना से जुड नही पाये। यदि उन्हे असग्रह की चेतना से जोडा जा सके तो आज भी कुछ विलक्षण बातें निष्पन्न हो सकती है।

धर्म के क्षेत्र मे अपरिग्रह की चर्चा बहुत हुई है। उसके बडे-बडे प्रयोग हुए है किन्तु यह स्वीकारना होगा कि अभी तक उसके आधार पर कोई समाज-व्यवस्था फलित नही हुई। किसी भी धर्म को मानने वाला समाज असंग्रह को सामाजिक व्यवहार में नहीं उतार पाया है और न उस दिशा मे कोई प्रयत्न ही किया है। समाजवाद और साम्यवाद उन लोगों के हाथ मे है जो अपरिग्रह की चेतना का मूल्य नहीं आक पाये है और अपरिग्रह का

परिग्रह के रूप

वर्तमान युग में अर्थ पर व्यक्तिगत स्वामित्व की भिन्न-भिन्न मर्यादाओं पर चिन्तन हुआ है और यह हुआ है सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में। धर्म के सन्दर्भ में परिग्रह के व्यक्तिगत स्वामित्व का चिन्तन हुआ था किन्तु इस युग में उसमें नये उन्मेष नहीं आए।

व्यक्तिगत संग्रह इष्ट नहीं है तब सामूहिक सग्रह इष्ट कैसे होगा? और समाजवादी या साम्यवादी व्यवस्था में वह इष्ट है, क्या यह सही दृष्टिकोण है? यह प्रश्न बहुत बार सामने आता है। इस प्रश्न को दो दृष्टिकोणो से देखना है। पहला- यह है कि परिग्रह मूर्च्छा है, वस्तु नही है। जिस वस्तु-संग्रह पर किसी व्यक्ति विशेष की मूर्च्छा नहीं जुड़ती, वह उसके लिए परिग्रह नहीं बनता। इसलिए सामुदायिक सग्रह में शायद परिग्रह कम होता है, वस्तुए ही ज्यादा होती है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि सामुदायिक वस्तु-संग्रह जब उपयोगिता से हटकर बड़प्पन, सत्ता आदि मूल्य ले लेता है तब वह अनर्थकर भी होता है। साम्यवादी व्यवस्था में उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद जैसी मनोवृत्ति के लिए कही कोई अवकाश नहीं है, फिर भी केन्द्रित शक्ति और अर्थ वाले राष्ट्र उन मनोवृत्तियों से क्या बच पाते है?

वस्तु-सग्रह–व्यक्तिगत हो या सामुदायिक–उपयोगिता से अतिरिक्त होता है, वह उन्माद लाता है। वस्तु-संग्रह का संयम व्यक्ति और समुदाय दोनों क्षेत्रों के लिए अपेक्षित है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति मे जितनी आसक्ति होती है, उतनी सामुदायिक में नही होती, फिर भी सामुदायिक सम्पत्ति संग्रह के दोषो से मुक्त है, यह नहीं माना जा सकता। जहां कही भी वस्तु, सम्पदा और सत्ता केन्द्रित होती है वहां

संग्रह और त्याग

सग्रह का अर्थ है–धर्म का नाश और पाप का पोषण।

धर्म कहता है–पूजी अनर्थ का मूल है। अन्याय का अखाड़ा है। धर्म की धन से नहीं पटती। धर्म और धन मे आपस में पूर्व-पश्चिम का विरोध है। धर्मक्षेत्र में धनी और धन की आशा रखने वाले दरिद्र का महत्त्व नही। वहां महत्त्व है अपरिग्रही और त्यागी का। इसीलिए दरिद्र और त्यागी अकिचन होते हुए भी एक नहीं होते।

दान करने के लिए भी संग्रह की भावना नहीं होनी चाहिए। दुनिया किसी के दान की भूखी नहीं, उसे संग्रह पर रोष है। यदि पूजीपति इसे नही समझ पाये तो चालू वेग न अणुबम से रुकेगा, न अस्त्र-शस्त्रो के वितरण से।

भारतीय तत्त्ववेत्ता हजारों वर्ष पहले इसके मूल तक पहुच चुके। उन्होने बताया कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समानता का विकास इसलिए नहीं होता है कि मनुष्य के हृदय में 'मूर्च्छा' है, बाहरी वस्तुओ के प्रति ममता है, आकर्षण है। बाहरी वस्तुए दु.ख नहीं देतीं, दुःख देता है उनके प्रति होने वाला आकर्षण। जब तक इच्छाओ को सीमित करने की बात का यथेष्ट प्रचार नहीं होगा, तब तक पूर्ति के साधनो का समाजीकरण केवल बाह्य उपचार होगा। व्यक्ति की स्थिति राष्ट्र ले लेगा। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषक वन जायेगा। समस्या का ठीक समाधान नही हो सकेगा।

मूर्च्छा से संग्रह होता है, संग्रह से श्रम में कमी होती है–वैषम्य बढ़ता है ऐसी स्थिति मे समतावाद का सूत्र है–मूर्च्छा का त्याग। यदि दुनिया वास्तव में युद्ध से डरती है, तो वह इस पथ पर आए। दरिद्र और पूंजीपति दोनो त्याग की प्रशस्त भूमिका पर आरोहण करे। '

अपरिग्रह और जैन श्रावक

कुछ लोगों का सोचना है कि भगवान् महावीर ने अपरिग्रह का सबसे अधिक प्रतिपादन किया किन्तु उनके अनुयायी अपरिग्रही नहीं हैं। उनके पास बहुत परिग्रह है। इस विषय पर धारणा की स्पष्टता आवश्यक है। भगवान् महावीर का अनुयायी एक वर्ग है—मुनि। वह विश्व में सम्भवतः सबसे अधिक अपरिग्रह का आग्रह रखता है और जीवन-निर्वाह के सीमित साधनों के अतिरिक्त कुछ भी पास में नहीं रखता। मूर्च्छा और संग्रह—दोनों से अतीत है उसका अपरिग्रह का महाव्रत।

दूसरा वर्ग है—श्रावक। वह गृहस्वामी होता है। वह परिवार, समाज आदि से जुड़ा हुआ है। वह व्यवसाय आदि से अपनी जीविका चलाता है इसलिए धन का अर्जन करता है और उपभोग भी। भगवान् महावीर ने उसे इच्छा-परिमाण का संकल्प दिया। इसका आशय यह है कि श्रावक जीविका के उपार्जन में अनैतिक और अप्रामाणिक साधनों का उपयोग न करे तथा व्यक्तिगत जीवन मे संयम बरते, विलासी न बने, वस्तुओं का अनावश्यक उपभोग न करे, इच्छाओं पर अंकुश रखे और संग्रह की कोई-न-कोई सीमा अवश्य करे। यह अपरिग्रह का अणुव्रत इच्छा-परिमाण है।

तीसरा वर्ग श्रद्धालुओ और समर्थकों का है। इस वर्ग के व्यक्ति न महाव्रती होते है और न अणुव्रती। वे सिद्धान्त और दर्शन के समर्थक होते है, उस पर श्रद्धा करते है किन्तु उसके आचरण की भूमिका तक नही पहुंच पाते। धर्म के अनुयायियों में प्रायः यही वर्ग सबसे बडा होता है। जैन धर्म भी इस स्थिति का अपवाद नहीं है। प्राय हर संस्था के सक्रिय सदस्यों की अपेक्षा साधारण सदस्यों और उनकी अपेक्षा समर्थकों की संख्या अधिक

होती है। धर्म-संस्था में भी लगभग ऐसा ही है।

धर्म का क्षेत्र हृदय-परिवर्तन का क्षेत्र है इसमें बल-प्रयोग कार्यकर नही होता। अर्थ के प्रति हृदय-परिवर्तन करना, दृष्टिकोण को बदलना बहुत ही कठिन कार्य है। क्योंकि अर्थ केवल आवश्यकता का ही साधन नहीं है, सामाजिक महत्त्व व प्रतिष्ठा का मानदण्ड भी है और शक्ति संचय का बहुत बड़ा स्रोत भी है इसलिए उसके प्रति सहज ही आकर्षण हो जाता है। इस कठिन कार्य को सरल बनाने में इच्छा-परिमाण अणुव्रत की भावना ने पर्याप्त योग दिया है। वर्तमान वातावरण में असंग्रह और साधन-शुद्धि का मूल्य प्रायः सर्व-सम्मत हो चुका है।

अपरिग्रह और विसर्जन

ममत्व या मूर्च्छा आन्तरिक परिग्रह है और वस्तु बाह्य परिग्रह। इन दोनों में निकट का सम्बन्ध है। मूर्च्छा को छोड़ने वाला बाह्य वस्तु को छोड़ता है और बाह्य वस्तु को छोड़ने वाला यदि मूर्च्छा को न छोड़े तो उसे छोड़ने का अर्थ शून्य हो जाता है। समग्र आकार में मूर्च्छा और वस्तु दोनों का विसर्जन अपरिग्रह बनता है।

परिग्रह-विसर्जन की प्राचीन परम्परा यह रही है कि जो पास में होता, उससे अधिक संग्रह न करने का व्रत स्वीकार किया जाता। सम्प्रति इस परम्परा में कुछ परिवर्तन आया है। कुछ लोग, जिनके पास एक लाख रुपया है, एक करोड़ से अधिक परिग्रह न रखने का व्रत लेते है। यह पद्धति गम्भीरता से सोचने पर अर्थवान् नहीं लगती। परिग्रह-विसर्जन का फलित संयम होना चाहिए और उसकी भूमिका व्यावहारिक तथा स्पष्ट होनी चाहिए।

कुछ लोग वार्षिक आय में से परिग्रह का विसर्जन करते है और कुछ लोग अपनी संगृहीत पूंजी में से भी विसर्जन कर देते है। विसर्जन के अनेक रूप हो सकते है। अर्थार्जन में अप्रामाणिक व्यवहार न करना, अशुद्ध साधनो को काम मे न लेना भी इच्छा का विसर्जन है और जो इच्छा का विसर्जन है वह परिग्रह का ही विसर्जन है।

कभी-कभी प्रश्न आता है कि हम लोग अर्जन भी करते रहें और विसर्जन भी करते चलें जाएं, यह क्या है? यदि विसर्जन ही करना है तो फिर अर्जन क्यों? इस प्रश्न का उत्तर अपने आप में ही ढूंढा जा सकता है। जिन्हें लगे कि हमारे लिए अर्जन आवश्यक नहीं है, उन्हें विसर्जन करने के

लिए अर्जन करने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए। जो लोग अर्जन को आवश्यक मानते हैं, उन्हें विसर्जन की बात को कभी नहीं भूलना चाहिए। जहां अर्जन के साथ विसर्जन की क्षमता उत्पन्न नहीं होती वहां संग्रह और उसका मोह तीव्र हो जाता है इसलिए जो अर्जन को न छोड़ सके उसे विसर्जन का अभ्यास, अपनी आय में से कुछ-न-कुछ छोड़ने का संकल्प या संयम अवश्य करना चाहिए जिससे उसकी मूर्च्छा सघन न हो। यह विसर्जन मूर्च्छा को बीच-बीच में भंग करते रहने की प्रक्रिया है, प्राप्त को त्यागते रहने का प्रयत्न है। ऐसा करने वाला किसी दूसरे के लिए नहीं करता किन्तु अपनी मूर्च्छा को ही सघन या एकाधिकार प्राप्त न होने देने के लिए करता है। श्रावक प्रतिदिन यह मनोरथ करता है कि कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का परित्याग करूंगा? यह विसर्जन का बहुत बड़ा सूत्र है।

यह विसर्जन की परम्परा यदि व्यापक हो जाए तो अहिंसा और अपरिग्रह के क्षेत्र में बहुत बडी क्रान्ति का सूत्रपात हो सकता है।

रात्रिभोजन का औचित्य ?

भोजन जीवन के लिए जितना अनिवार्य है उतना ही अनिवार्य है भोजन का विवेक। आयुर्वेद के आचार्यों ने उस विवेक को विस्तार दिया है कि व्यक्ति कब खाए, क्या खाए, क्यों खाए और कैसे खाए? भोजन का शरीर और मन दोनों पर असर होता है इसलिए धर्माचार्यों ने भी इन प्रश्नों पर विचार किया। हर क्रिया का अपना समय होता है। भोजन का भी अपना समय होता है। भगवान् महावीर ने मुनि के लिए विधान किया कि वह रात्रि-भोजन न करे। इसमें अहिंसा का विचार सुनिश्चित है किन्तु उसके साथ-साथ विचार की अन्य रेखाएं भी कम नहीं हैं।

भोजन की सफलता खाने मात्र में नहीं है किन्तु उसके पच जाने में है। सूर्य के प्रकाश में भोजन का जैसा परिपाक होता है, वैसा रात्रि में नहीं होता। उसकी मांग सूर्योदय के बाद ही होती है। इस दृष्टिकोण से रात्रि को न खाना स्वास्थ्य से भी जुड़ा हुआ है।

रात्रि में भोजन न करने पर सहज ही तपस्या हो जाती है। गणित की भाषा में बारह महीनों की तपस्या अपने आप हो जाती है।

प्रश्न हो सकता है कि प्रकाश कम था इसलिए रात्रि-भोजन का निषेध किया गया। आज प्रकाश वहुत सुलभ है, फिर उसके निषेध का विशेष अर्थ क्या हो सकता है?

अन्धकार में भोजन न करने के पीछे जो अहिंसा की दृष्टि है, वह विजली के प्रकाश में करने पर भी लागू होती है। विजली के प्रकाश में कभी-कभी इतने जीव उत्पन्न हो जाते हैं कि भोजन करना भी कठिन हो जाता है। अंधेरे मे भोजन करना स्वयं कठिनाई है। प्राचीन काल में वह कठिन

गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म का

तीव्र थी इसलिए बहुत बार खाद्य के साथ-साथ अखाद्य चीजें भी खा ली जाती थीं। इस विद्युत् युग में यह कठिनाई नहीं रही पर बिजली के जीवो की कठिनाई आज भी है।

हर व्यक्ति के लिए रात्रि-भोजन न करना सम्भव कैसे हो सकता है? यह विचारणीय प्रश्न है। मुनि के लिए यह व्रत बहुत अच्छा है किन्तु काम-धन्धे में व्यस्त गृहस्थ के लिए उसकी सम्भावना अधिक नहीं है। सम्भावना न होने के पीछे कोरी व्यस्तता ही नहीं है। उसके पीछे उसकी पृष्ठभूमि मे आसक्ति और भोजन का अविवेक भी है। जो लोग नाश्ते में बहुत खा लेते है, वे दिन का भोजन देर से करते है। दिन के भोजन में बहुत खा लेते है फिर भूख नहीं लगती, तब रात को और भी देर से खाते है। इस प्रक्रिया में व्यस्तता का दोष नहीं है। यह दोष आसक्ति और अविवेक का है। इस अविवेक को छोडने पर रात्रि-भोजन से अपने-आप बचाव हो जाता है। समय-सारणी भी अपने आप व्यवस्थित हो जाती है। रात्रि-भोजन का निषेध केवल भोजन का ही निषेध नहीं है, यह विवेक-जागरण का बहुत बडा प्रयत्न है।

जैन धर्म

भोग में त्याग और परिग्रह में धर्म की भावना जागृत होने से, धर्म के नाम पर हिसक घटनाएं होने से जनता की आस्था धर्म तत्त्व से हट जाती है।

मानव शरीर मे दानव की आत्मा उतनी खतरनाक नहीं होती, जितनी खतरनाक धर्म की ओट में अधर्म की पूजा होती है।

शुद्ध धर्म व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वह संस्थागत या सामाजिक निधि नहीं हो सकता। विश्व-द्रष्टा महावीर ने हिसा, संयम और तपस्यामय धर्म को उत्कृष्ट मंगल कहा है--

'धम्मो दीवो पइट्‌ठा य गई सरणमुत्तमं'--धर्म द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है। संयममय धर्म के लिए ये सब विशेषण उपयुक्त है।

जैन-धर्म विजेताओं का धर्म है। परम योद्धाओं का धर्म है। सच्चा विजेता और सच्चा सैनिक वही होता है, जो अपनी आत्मा पर विजय पाता है और अपनी आत्म-प्रवृत्तियों से जूझता है। भगवान् महावीर ने कहा है--**'सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति'**--प्राणियो की हत्या वही करता है, जो तत्वहीन होता है।

मानव मानव का शत्रु नही होता। मानव को परास्त कर अपने को विजयी मानने वाला मूर्ख होता है। आत्म-विजय करो। राग और द्वेष--ये दो बड़े शत्रु है। इन्हें जीतो, यही परम विजय है, यही धर्म का रहस्य है।

आज की दुनिया अशान्त है, अतृप्त है, हिसा-परायण है। इसलिए उसको अहिंसा-प्रधान एवं संयम-प्रधान आत्म-धर्म की आवश्यकता है। जैन-धर्म का उचित प्रचार हो तो वह विश्व के लिए महान् निधि का काम कर सकता है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

मुक्ति-पथ

कुछ धर्म ज्ञान-प्रधान हैं और कुछ आचरण-प्रधान। जैन-धर्म न ज्ञान-प्रधान है और न आचरण-प्रधान। उसमें कोरे ज्ञान के लिए कोई स्थान नही है और कोरे आचरण के लिए भी कोई स्थान नहीं है। उसमें उसी ज्ञान के लिए स्थान है जिसकी निष्पत्ति आचरण है और उसी आचरण के लिए अवकाश है जिसकी पृष्ठभूमि में ज्ञान है। इसका फलित यह है कि ज्ञान और आचरण संयुक्त होकर ही लक्ष्य के साधक बन सकते हैं, वियुक्त होकर कभी नही

ज्ञान चक्षुष्मान् है किन्तु गतिशील नहीं है। आचरण गतिमान् है किन्तु चक्षुष्मान् नहीं है। लक्ष्य तक पहुंचने के लिए चक्षु और गति दोनों चाहिए एक था अन्धा और एक था पंगु। अन्धा चल सकता था पर देख नहीं सकता था। पंगु देख सकता था पर चल नहीं सकता था। दोनों समुदाय से बिछु गए। उन्हें एक ही स्थान पर जाना था। दोनों ने समझौता किया और चल पड़े। पंगु अन्धे के कन्धे पर बैठ गया। वह मार्ग दिखाता रहा और अन्धा चलता रहा। दोनों संयुक्त होकर अपने स्थान पर पहुंच गए। आचरण अन्धा है और ज्ञान पंगु। आचरण देख नहीं पाता और ज्ञान चल नहीं पाता। दोनों का योग होता है तब वे लक्ष्य तक पहुंच जाते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर उमास्वाति ने लिखा–

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र–इन तीनों का योग है। मार्ग एक है और वह है इन तीनों का समन्वय। अकेले किसी में भी मार्ग बनने की क्षमता नहीं है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान–ये दोनों एक शब्द में ज्ञान कहलाते है

और विस्तार से समझना होता है तब ज्ञान और दर्शन—ये दो रूप बन जाते है। हम पहले देखते है, फिर जानते हैं। जो नहीं देखता, उसे ज्ञान नहीं होता—

'नादंसणिस्स नाणं'

अज्ञानी के चरित्र का विकास नहीं होता—

'नाणेण विना न हुंति चरणगुणा'

भगवान् महावीर ने बहुत मार्मिक भाषा में कहा है—अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा? वह श्रेय और पाप को कैसे जानेगा—

"अन्नाणी किं काही? किं वा नाहिइ छेयपावगं?"

जो श्रेय और पाप को नहीं जानता वह श्रेय का आचरण और अश्रेय का परित्याग नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञान होना जरूरी है और उतना ही जरूरी है—उसका आचरण। श्रेय का स्वीकार और अश्रेय का परित्याग, इन दोनों के होते ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

सम्यग्‌दर्शन

इस दृश्य जगत्‌ मे अनेक वर्ण और अनेक आकृतियां है। वे चक्षु के द्वारा देखी जाती हैं इसलिए चक्षु द्रष्टा है, वे दृश्य है। क्या वस्तु उतनी ही है जितनी चक्षु के द्वारा देखी जाती है? नहीं। ऐसा नहीं है। चक्षु में वर्ण और आकृति से अधिक देखने की शक्ति नहीं है। आन्तरिक चक्षु का उद्‌घाटन होने पर वस्तु के असंख्य रूप प्रत्यक्ष होते है, जो इन्द्रियों के द्वारा नहीं होते। यह अन्तश्चक्षु का दर्शन है।

ताल की भूमि है और ज्येष्ठ की चिलचिलाती धूप। कोई आदमी देख रहा है और उसे थोड़ी दूर पर जल दिखाई दे रहा है। यह मृग-मरीचिका है। प्रकृति-जनित मोह के कारण सूखी भूमि में भी जल दिखाई देता है। इसी प्रकार मोह के परमाणु भी व्यक्ति में मोह उत्पन्न करते है। उससे मूढ़ बना हुआ व्यक्ति सत्य को यथार्थ की दृष्टि से नहीं देख पाता। यह मिथ्यादर्शन की स्थिति है। इस स्थिति में चेतन और अचेतन का भेद नहीं समझा जा सकता।

मोह कर्म के परमाणुओं का विलय होने पर दर्शन की चेतना जागृत होती है। उसके जागृत होने पर व्यक्ति वस्तु को यथार्थ की दृष्टि से देखने लग जाता है। उसे चेतन और अचेतन की भिन्नता का स्पष्ट बोध हो जाता है। यही है सम्यग्‌दर्शन; और यह दर्शन फिर प्रत्येक वस्तु के मूल स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। उमास्वाति ने लिखा है–

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्‌दर्शनम्‌'

तात्त्विक अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन की व्यावहारिक परिभाषा है। **'दर्शनं निश्चयः पुंसि'**–आत्मा का निश्चय होना

सम्यग्‌दर्शन के परिणाम

सम्यग्दर्शन का विकास होने पर कुछ विघटित होता है और कुछ घटित होता है। जीवन के दो महान् आवर्त है–

१. सन्देह

२. मूढ़ता।

जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक व्यक्ति सत्य के प्रति सन्दिग्ध बना रहता है। उसकी प्राप्ति का पहला परिणाम यह होता है कि सत्य के प्रति होने वाला सन्देह समाप्त हो जाता है। उसके साथ-साथ दृष्टि की मूढ़ता भी चली जाती है। कुछ लोग धर्म के विषय में मूढ़ होते है, कुछ लोग ध्येय के प्रति और कुछ भगवान् के प्रति मूढ़ होते है किन्तु सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होने पर ये सब मूढ़ताएं विदा हो जाती है। सम्यग्दर्शनी व्यक्ति का ध्येय होता है–आत्म-साक्षात्कार, उसका धर्म होता है–आत्म-रमण और उसका भगवान् होता है–परमात्मा–कर्म-मुक्त आत्मा। सम्यग्दर्शन की तीसरी विशिष्ट उपलब्धि है–अभय। मिथ्यादर्शन भय की सृष्टि करता है। धन के प्रति दृष्टिकोण गलत होता है तब वह भय को उत्पन्न करता है। सत्ता और ऐश्वर्य के प्रति होने वाला गलत दृष्टिकोण भी भय उत्पन्न करता है। भय धन, सत्ता और ऐश्वर्य में नहीं है किन्तु उनके साथ सम्बन्ध की मिथ्या कल्पना से भय उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शनी व्यक्ति के सामने शाश्वत और अशाश्वत, संयोग और वियोग का भय नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन की वहुत बड़ी उपलब्धि है। और तो क्या, उसे मृत्यु का भय नहीं होता।

राजगृह के बाहर भगवान् महावीर आए। जनता को पता चला किन्तु भगवान् के पास जाने को कोई तैयार नहीं हुआ। भगवान् राजगृह मे आए

और उनके पास कोई न जाए यह बहुत आश्चर्य की बात है किन्तु इस घटना के पीछे आश्चर्य नहीं, भय बोल रहा था। अर्जुन मालाकार उस दिशा में जाने वालों को प्रतिदिन मार रहा था। प्रशासन उस पर नियन्त्रण नहीं कर पा रहा था। श्रमणोपासक सुदर्शन ने भगवान् की उपासना के लिए जाने का निश्चय किया और रोक-टोक के उपरान्त वह नगर से बाहर चला गया। उसके अभय ने भय को सदा के लिए समाप्त कर दिया। अर्जुन मालाकार के जीवन का कायापलट हो गया। सुदर्शन का अभय सम्यग्दर्शन से फलित हुआ था।

सम्यग्दृष्टि के लक्षण

सम्यग्दर्शन आन्तरिक विकास है। आन्तरिक तत्त्व बाहर नहीं आता। बाहर आती है ध्वनि या उसका व्यवहार। हम अन्तर तक पहुंच भी नहीं पाते। हम व्यवहार के आधार पर ही निर्णय करते है। सम्यग्दर्शनी का व्यवहार साधारण जन से भिन्न प्रकार का हो जाता है। उसके व्यवहार की पांच बाते आधारभूत होती हैं–

१. शम : मन की शान्ति
२. संवेग : मुमुक्षा
३. निर्वेद : अनासक्ति
४. अनुकम्पा : करुणा
५. आस्तिक्य : सत्यनिष्ठा

मन की अशान्ति परिस्थिति से प्राप्त नही है। किन्तु स्थिति के प्रति हमारा दृष्टिकोण गलत होता है, तब उससे प्राप्त होती है। सामान्यतः तर्क यह होता है कि परिस्थिति मनुष्य के दृष्टिकोण को बनाती है किन्तु वास्तविकता यह है कि मनुष्य का दृष्टिकोण जैसा होता है उसी रूप में वह परिस्थिति को स्वीकार करता है। दृष्टिकोण की समीचीनता हो जाने पर मनुष्य परिस्थिति की अनुकूलता या प्रतिकूलता को स्वीकार कर सकता है किन्तु उससे अशान्ति के तत्त्व को स्वीकार नहीं करता।

शान्ति के लिए मुक्त होने की इच्छा का होना जरूरी है। बन्धन की दिशा में जाने वाला व्यक्ति शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकता।

मुक्त होने के लिए मन का अनासक्त होना जरूरी है। आसक्ति बन्धन है और बन्धन अशान्ति है। पदार्थ दुनिया मे है और रहेंगे। वे हमें

बन्धन में नहीं डालते। बन्धन में डालता है उनके प्रति होने वाला अनुराग। सम्यग्दर्शी व्यक्ति पदार्थ को पदार्थ की दृष्टि से देखता है और व्यवहार करता है किन्तु उनमें अपना लगाव नहीं होने देता।

जिस व्यक्ति में अपने या दूसरों के प्रति करुणा उत्पन्न हो जाती है, वही आसक्ति से बच सकता है। सबकी हित-चिन्ता नहीं करने वाला कभी आसक्ति से बच नहीं सकता।

ये सारे बीज सत्य-निष्ठा की उर्वरा में अंकुरित होते है। सत्य के प्रति निष्ठा हुए बिना कैसे क्रूरता विसर्जित होगी? कैसे अनासक्ति निर्मित होगी? कैसे मुक्त होने की भावना जागृत होगी और कैसे मन को शान्ति उपलब्ध होगी?

सम्यग्दर्शन के विघ्न

सत्य आत्मा से बाहर नहीं है। वह हमें पाना नहीं है किन्तु प्राप्त है। उसके अभिव्यक्त होने में जो विघ्न है, उन्हें दूर करना है। सत्य की दूरी विघ्न के कारण प्रतीत होती है। विघ्न हो जाने पर सत्य में और हममें कोई द्वैत नहीं रहता।

सम्यग्दर्शन का पहला विघ्न है—शंका। अशंकनीय तत्त्व के प्रति शंका का उत्पन्न होना सत्य के साथ आंख-मिचौनी खेलने जैसा है। बहुत सारे लोग अपने अस्तित्व के प्रति आशंकित होते है जबकि वह आशंकनीय नही है। इस दुनिया में जो पहले नहीं है और पीछे नहीं है, वह मध्य में भी नहीं हो सकता—

जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया।

एक परमाणु भी जब अपना अस्तित्व नहीं खोता, तब चेतना अपना अस्तित्व कैसे खोये?

आत्मा की भाति सत्य के जितने रूप और पर्याय हैं वे सम्यग्-दर्शन के विषय है। उनके प्रति आशंका का होना सम्यग्-दर्शन का बहुत बड़ा विघ्न है।

जिस व्यक्ति के मन में सत्य तक पहुंचने की भावना होती है, वही उस तक पहुच पाता है। दूसरी-दूसरी आकांक्षाओं को लेकर चलने वाला सत्य तक नही पहुंच सकता। आकांक्षा सत्य की दिशा में जा ही नहीं सकती। उसे लेकर कोई सत्य की दिशा में चलना चाहता है, उसके पैर भी ठिठक जाते है। यह सम्यग्दर्शन का दूसरा विघ्न है।

सत्य एक लक्ष्य है। उस तक पहुंचने के लिए अवस्थित अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। अनवस्थित अध्यवसाय वाला व्यक्ति एक दिशा में चल नहीं सकता। वह दिशा को बदलता रहता है इसलिए सत्य उसके हाथ नहीं लगता। चित्त की ऊर्जा एक दिशा में प्रवाहित होती है तब वह लक्ष्य तक पहुंच जाती है। चारों दिशाओं में छितरी हुई धारा कभी भी प्रवाह नहीं बन पाती और प्रवाह बने बिना कोई भी धारा समुद्र तक नहीं पहुंच पाती। सत्य के समुद्र तक पहुंचने में चित्त की विचिकित्सा (अनवस्थितता) तीसरा विघ्न है।

सत्य की दिशा में यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए यह बहुत महत्त्व की बात है कि वह किसे समर्थन दे रहा है? सत्य की दिशा में चलने वाला यात्री यदि असत्य की दिशा में जाने वालों का समर्थन करता है, उनके साथ अपने सम्पर्क को पुष्ट करता है तो उसकी दिशा भी उलट जाती है इसलिए इस विषय में उसे बहुत सावधान रहने की आवश्यकता होती है। यह विघ्न पहले के विघ्नों से भी भयंकर है। असत्य-दिशागामी व्यक्तियों का समर्थन और सम्पर्क सम्यग्दर्शन का क्रमशः चौथा और पांचवां विघ्न है।

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान का काम है जानना। जानना समीचीन भी हो सकता है और असमीचीन भी। कोरा ज्ञान मुक्ति का पथ नहीं है। मुक्ति का पथ वह ज्ञान हो सकता है जो समीचीन हो, सम्यग् हो। असम्यग्-ज्ञान मुक्ति का पथ नहीं हो सकता।

ज्ञान होना ज्ञानावरण के विलय का परिणाम है। ज्ञान का आवरण जितना हटता है, उतना ही ज्ञान प्रकट हो जाता है। ज्ञान निर्मल या प्रकाशी होता है। वह सहज रूप में मिथ्या या सम्यग् होता ही नहीं। किन्तु जैसे कीचड़ के सम्पर्क से जल गंदला हो जाता है वैसे ही मोह परमाणुओं के सम्पर्क से ज्ञान असम्यक् हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान को दो भागों में बांटने का श्रेय मोह परमाणुओं को ही प्राप्त होता है। मोह सघन होता है तो ज्ञान असम्यक् हो जाता है। मोह कृश होता है तो ज्ञान सम्यक् हो जाता है। मोह से अप्रभावित ज्ञान को वास्तव में ज्ञान कहना चाहिए किन्तु असम्यक् की तुलना में उसे सम्यक् कहा जाता है।

मोह का सीधा सम्बन्ध दर्शन से है। उसके सघन उदय में दर्शन विकृत हो जाता है। जिसका दर्शन या दृष्टिकोण विकृत हो जाता है उसका ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता इसीलिए यह कहा जा चुका है कि अदर्शनी को ज्ञान नहीं होता। पहले दर्शन और फिर ज्ञान, पहले सम्यग्दर्शन और फिर सम्यग्ज्ञान। सम्यग्दर्शन होने पर मनुष्य यथार्थ को जानता है, वास्तविकता का बोध करता है। जो जिस रूप में है उसे उसी रूप में ग्रहण करता है। सम्यग्ज्ञान का कार्य है—तत्त्व का यथार्थ बोध।

दूर से ही देखा था।' लड़का अपने चाचा के पास गया और कहा कि वे सब तो कांच के टुकड़े हैं। चाचा ने हंसते हुए कहा—'बेटा! यदि तुम्हें उस समय यह रहस्य बता देता तो तुम्हारे मन को धक्का पहुंचता। इसलिए मैंने सोचा—समय पर तुम्हारे सही ज्ञान से ही उनकी पहचान कराई जानी चाहिए।'

सम्यग्-ज्ञान के अभाव में मनुष्य की स्थिति उस बच्चे के समान हो सकती है। इसलिए आज आवश्यकता है कि हर व्यक्ति अपने जीवन में सम्यक्-ज्ञान का विकास करे।

सम्यग्ज्ञान का विषय

इस विश्व में जानने वाला और जानने योग्य—ज्ञाता और ज्ञेय—ये दोनों हैं। जैन-दर्शन के अनुसार ये दोनों वास्तविक हैं। अद्वैत के अनुसार ज्ञाता (ब्रह्म) वास्तविक है, ज्ञेय वास्तविक नहीं है—व्यावहारिक या प्रातिभासिक है। चार्वाक के अनुसार ज्ञेय वास्तविक है, ज्ञाता वास्तविक नहीं है। शून्यवादी बौद्धों के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय—दोनों वास्तविक नहीं हैं। किन्तु जैन दर्शन ज्ञाता और ज्ञेय—दोनों को वास्तविक मानता है।

वास्तविक सत्ताएं—मूल द्रव्य दो हैं—

१. चेतन (जीव)

२. अचेतन (अजीव)

मौलिक तत्त्व भी दो ही हैं। शेष द्रव्य या तत्त्व उनके विभाग या पर्याय हैं। तत्त्व नौ माने गये हैं—

१. जीव
२. अजीव
३. पुण्य
४. पाप
५. आश्रव
६. संवर
७. निर्जरा
८. बन्ध
९. मोक्ष

इनमें आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये चार जीव के पर्याय है। पुण्य, पाप और बन्ध—ये तीन अजीव के पर्याय हैं। विस्तार से संक्षेप की ओर जाते है तब जीव के पर्याय जीव में और अजीव के पर्याय अजीव में समाहित हो जाते है। संक्षेप में विस्तार की ओर जाने पर तत्त्व की संख्या

बढ़ जाती है। यह विस्तार उपयोगिता की दृष्टि से किया जाता है।

जीव—यह अस्तित्व का प्रतिपादन है किन्तु उसके शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन नहीं है। मोक्ष में अस्तित्व और शुद्ध स्वरूप—दोनों एक हो जाते है।

आश्रव—जीव की अशुद्धता का निर्माण करने वाला पर्याय।

संवर—अशुद्धता का निरोध करने वाला पर्याय।

निर्जरा—अर्जित अशुद्धता को क्षीण करने वाला पर्याय।

मोक्ष—जीव का मौलिक स्वरूप में अवस्थान।

पुण्य, पाप और बन्ध—ये तीनों जीव को प्रभावित करने वाले अजीव के पर्याय है। ये शुभ या अशुभ किसी भी रूप में जीव के मौलिक स्वरूप को प्रभावित करते हैं—उसके मुक्त होने में बाधक बनते हैं। ये सभी तत्त्व सम्यग्-ज्ञान के द्वारा ज्ञेय हैं।

सर्वांगीण दृष्टिकोण

वस्तु अनन्तधर्मा होती है—प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म होते है। परिमित धर्मवाली कोई भी वस्तु नहीं होती। वस्तु में अनन्त धर्म होते है, इसका तात्पर्य यह है कि अनन्त विरोधी युगल होते हैं। वस्तु का अस्तित्व कभी भी नष्ट नहीं होता इसलिए वह नित्य है। उसके पर्याय बदलते रहते हैं, उसमें रूपान्तर होता रहता है इसलिए वह अनित्य है। नित्य और अनित्य—ये दोनों विरोधी धर्म है। किन्तु कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जिसमें ये दोनों धर्म न हो।

एक मकान को हम भिन्न-भिन्न कोणों पर खड़े होकर देखते हैं और उसमें भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं। यह वस्तु की अनेकरूपता का सूचक है।

एक ही व्यक्ति को एक साथ पचास आदमी देखते है और वे उसे विभिन्न रूपों में ग्रहण करते है। इसका हेतु उस व्यक्ति की विभिन्न-रूपता है। यदि वह एक ही रूप में हो तो विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोणों का निर्माण नहीं हो सकता।

फोटोग्राफी मे एक व्यक्ति की विभिन्न मुद्राओं को देखकर कई बार यह कल्पना करना भी कठिन हो जाता है कि ये मुद्राएं एक ही व्यक्ति की है। हर वस्तु मे सदृशता और विसदृशता—ये दोनों विरोधी धर्म एक साथ रहते है। एक ही पलाश को चार राजकुमारों ने चार विभिन्न ऋतुओं में और उनकी चार धारणाएं बनीं। चारों की धारणाओं में पलाश एक किन्तु चार विभिन्न पेड़ थे। राजा के पूछने पर उन्होंने अपनी का वर्णन किया किन्तु चारों में एकता नहीं ला सके। यह सच्चाई

पतझड़ का पलाश और वसन्त का पलाश एक कैसे हो सकता है? जिसने पतझड़ में पलाश को देखा और वसन्त में नहीं देखा, उसकी दृष्टि में पलाश का एक रूप है। जिसने वसन्त में पलाश को देखा और पतझड़ में नहीं देखा, उसकी दृष्टि में पलाश का दूसरा रूप है। उसके ये भिन्न रूप भिन्न पर्यायों के कारण बने थे।

जो व्यक्ति अनन्तधर्मा वस्तु को अनन्त दृष्टिकोणों से ग्रहण करता है, उसका ज्ञान सम्यक् है। एकांगी ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता।

सम्यक्चारित्र

ज्ञान का सार आचार है–**'नाणस्स सारं आयारो।'** ज्ञान की उत्पत्ति अपने स्वरूप में है किन्तु उसकी निष्पत्ति आचार में होती है। ज्ञान अनन्त है। वह आत्मा का स्वाभाविक गुण है। वह स्वयं मुक्ति है, मुक्ति का पथ नहीं है। मुक्ति का पथ वही ज्ञान होता है जिसकी निष्पत्ति आचार के रूप में होती है। ज्ञान से सम्बद्ध आचार और आचार से सम्बद्ध ज्ञान ही मुक्ति के पथ वनते हैं। वास्तव में ज्ञान की नैसर्गिक परिणति आचार है।

आचार मुक्ति का साधन है। उसका अर्थ है–ज्ञानपूर्वक अक्रिया (कुछ न करना; शरीर, वाणी और मन को शान्त करना) अथवा अक्रिया-युक्त क्रिया। पारिभाषिक शब्दावली में अक्रिया को संवर या गुप्ति और अक्रियायुक्त क्रिया को समिति, तपस्या या निर्जरा कहा जाता है।

जैन साधना पद्धति में आचार का मौलिक तत्त्व एक ही है। वह है–संवर। शेष सब उसी का विस्तार है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में–

आश्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्।

आश्रव संसार का कारण है और संवर मोक्ष का। जैन साधना पद्धति का इतना ही दृष्टिकोण है। शेष सब उसका विस्तार है।

देहधारी मनुष्य पूर्णरूपेण अक्रिय नहीं हो सकता। वह कुछ-न-कुछ करता रहता है। उसके पास क्रिया के तीन साधन है–शरीर, वाणी और मन। अक्रिया का आचरण करने वाला इन क्रियाओं को कम करने का अभ्यास करता है। शरीर की क्रिया निरुद्ध होती है तव काय का संवर होता

२. वाचिक

३. मानसिक

उपवास, आसन आदि कायिक तप है। स्वाध्याय वाचिक तप है। ध्यान मानसिक तप है। प्रतिसंलीनता, प्रायश्चित्त, विनय और सेवा–ये कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों होते हैं। इस प्रकार तप का स्वरूप बहुत व्यापक है। भगवान् महावीर ने शरीर को कष्ट देने के लिए तप का विधान किया, यह बात नितांत भ्रांत है। इस भ्रांति का प्रभाव बहुत सारे जैनों पर भी है और दूसरों पर भी है। तथ्य यह है कि भगवान् महावीर ने शरीर को सताने के लिए कुछ विधान नहीं किया। उन्होंने वही विधान किया जो इन्द्रिय-संयम तथा काय, वाणी और मन के संवर में सहयोगी हो सके। इसी चिन्तन के आधार पर भगवान् ने तप का विशाल प्रासाद खड़ा किया। अज्ञानमूलक और हिंसामूलक प्रवृत्तियों का उन्होंने तप में समावेश नहीं किया। उनकी भाषा में तप वही है जिसके मूल में ज्ञान, अहिंसा और लक्ष्य-पूर्ति की क्षमता हो इस कोटि का तप ही सम्यक् तप होता है।

मुक्ति का आकर्षण

दर्शन ने जीवन के लक्ष्य पर विचार किया है। उसकी यह सर्व सामान्य निष्पत्ति है कि जीवन का सर्वप्रथम या अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है।

मुक्ति का इतना आकर्षण क्यों? यह प्रश्न सहज ही उभरता है। इसका उत्तर वह नहीं दे सकता जिसे बन्धन का अनुभव है। इसका सही-सही उत्तर वही दे सकता है जिसे बन्धन का अनुभव नहीं है। निरन्तर आकाश में स्वच्छन्द विहार करने वाला पक्षी स्वतन्त्रता की व्याख्या नहीं कर सकता। उसकी व्याख्या वही कर सकता है जिसे पिजड़े में बंध जाने को विवश होना पड़ा है।

राग बन्धन है, द्वेष बन्धन है, और भी अनेक बन्धन है। इन बन्धनो से बंधा हुआ व्यक्ति ही समस्याओं को जन्म देता है, दुःख की सृष्टि करता है और दुविधाएं उत्पन्न करता है। वह समस्याओं, दुःखो और दुविधाओं का अन्त पाने के लिए प्रयत्न करता है। किन्तु बन्धन-मुक्ति की दिशा मे चलने का प्रयत्न किए बिना उनसे मुक्त होने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। मकड़ी अपने ही जाल में फस जाती है। रेशम का कीड़ा अपने लिए ही ताना-वाना बुनता है और उसी में समाप्त हो जाता है। मनुष्य भी अपने हाथों बन्धन का जाल बिछाता है और उसी में उसके पैर उलझ जाते है। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा, "भंते! दुःख कौन करता है?"

अत्तकड़े दुक्खे	दु.ख व्यक्ति स्वयं करता है?
परकडे दुक्खे	कोई दूसरा करता है?
तदुभयकडे दुक्खे	दोनों मिलकर करते है?

भगवान् ने कहा—

गोयमा! अत्तकडे दुक्खे	गौतम! दुःख व्यक्ति स्वयं करता है।
नो परकडे दुक्खे	दूसरा नहीं करता।
नो तदुभयकडे दुक्खे	दोनों मिलकर नहीं करते।

एक संस्कृत कवि ने ठीक ही लिखा है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा॥

—कोई व्यक्ति सुख-दुःख देने वाला नहीं है। कोई दूसरा व्यक्ति सुख या दुःख देता है, यह कुबुद्धि का विचार है।

बन्धन की सृष्टि मनुष्य करता है और उसका विमोचन भी वही करता है। जिसके ज्ञान और दर्शन के चक्षु उद्घाटित नहीं होते, वह बन्धन के आयाम खोलता जाता है और जिसके ये चक्षु उद्घाटित हो जाते है, उसके चरण मुक्ति की दिशा में गतिशील हो जाते है।

सत्य की खोज

जिज्ञासा, एषणा व खोज मानवीय चेतना की सहज वृत्ति है। विश्व क्या है? जीवन क्या है? जीवन का लक्ष्य क्या है?–ये वे प्रश्न हैं जो मानव के मस्तिष्क में सदा से उठते आए हैं। विवेकी मानव ने सतत साधना, अनुशीलन और अनुभूति द्वारा उनका समाधान ढूंढने में अपने को खो-सा दिया। इसी चिन्तन के फलस्वरूप दर्शन निकला।

दर्शन कुछ नही, जीवन की व्याख्या है, विश्लेषण है, सत्य की खोज है।

समस्त दर्शनों का मूल बीज है–दुःख के अभिघात और सुख के लाभ की आकांक्षा। मौलिक धारणा के अनुसार विभिन्न दर्शनों के उद्‌गम मे विशेष अन्तर नहीं है।

दर्शन आग्रह, हठ व पकड़ नहीं सिखाता, वह तत्त्व का साक्षात्कार कराता है। अपेक्षा-भेद से तत्त्व के अनेक रूप बनते है पर उन सबका आग्रहपूर्ण प्रतिपादन सही नहीं हो सकता।

दर्शन जो जीवन-शुद्धि और आत्म-सुख का विधान है, उसे आपसी संघर्ष का हेतु न बनाया जाए। अतीत में एक बुरा समय अभिशाप बनकर देश में आया। दर्शन के आधार पर यहां रक्तपात हुआ, संघर्ष हुआ। भाई-भाई के बीच वैमनस्य की भेद-रेखा ने आ उन्हें अलग-अलग किया। यह भूल-भरा विचार था। आगे उसकी पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए।

विचार-वैविध्य दोष नहीं है। दोष है उसकी भित्ति पर विरोध-प्रचार।

दर्शन के अधिकारी अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकाश मे लायें, यह मर्यादा से परे नहीं है। पर दूसरों का दृष्टिकोण समझे बिना आग्रह । उसे विकृत बनाकर प्रकाश में लाना औचित्य की परिधि के हो सकता।

जैन दर्शन क्या है ?

जैन दर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। दूसरे शब्दों में वह निवृत्तिप्रधान दर्शन है। 'जिन' से जैन बनता है। जिन का मतलब है–आत्म-विजेता, वीतराग। **'जयतीति जिनः'**–जो आत्म-विजयी है, वह जिन है। **'जिनो देवता यस्य सः जैनः'**–'जिन' जिनके देवता हैं, जो जिन के प्रवचनों के अनुसार चलते है, वे जैन है। जैन-धर्म वीतराग का धर्म है। वीतराग उसके प्रवर्त्तक है। उन्होंने अपने प्रवचनों में जिन अमूल्य तत्त्वों की पूंजी हमें दी है, वह संसार में सदा अमर रहेगी।

जैन-दर्शन ने मुख्यतः विचार और आचार–इन दोनों पहलुओ पर बल दिया है। जहां विचारात्मक पहलू का प्रसंग आता है वहां जैन दार्शनिको ने अनेकान्त दृष्टि दी है, जो सब प्रकार के विरोधों की गुत्थियां सुलझाने वाली एक महान दृष्टि है। उसका कहना है कि किसी भी पदार्थ को एकान्त दृष्टिकोण से मत देखो। एकान्त दृष्टि आग्रह की जननी है। आग्रही व्यक्ति तत्त्व को समग्र रूप से समझ नहीं सकता। इसलिए किसी भी तत्त्व को समझने के लिए अनेक दृष्टियों का प्रयोग करना जरूरी है।

अपेक्षा-दृष्टि ही व्यक्ति को सही रास्ता दिखला सकती है। यह सिद्धान्त संसारवर्ती छोटे-बड़े सभी तत्त्वों पर लागू होता है। प्रश्न उठता है–इस विश्व का कोई आदि बिन्दु भी है या यह अनादि अनन्त है ? इस पर कोई दर्शन इसे सादि-सान्त कहता है और कोई अनादि-अनन्त। किन्तु जैन-दर्शन अनेकान्त दृष्टि के आधार पर संसार को सादि-सान्त और अनादि-अनन्त दोनों बताता है। क्योंकि अपेक्षावाद के अनुसार जगत् न नित्य है और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य है। यह संसार-चक्र सदा चलता

रहता है। द्रव्यत्व की अपेक्षा वह अनादि-अनन्त है और प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली पर्यायों की अपेक्षा सादि-सान्त है। इस प्रकार यह नियम सब तत्त्वो पर लागू होता है। अनाग्रह बुद्धि से खोजने पर ही वस्तु-तत्त्व उपलब्ध हो सकता है।

जहा आचारात्मक पहलू का प्रसंग आता है वहां जैन दार्शनिकों ने अहिसा की दृष्टि दी है। अहिंसा क्या है? मन, वाणी और कर्म—इन तीनों को विशुद्ध रखना, कलुषित न होने देना ही अहिसा है।

ज्ञेय के प्रति

जिस व्यक्ति ने शान्त सागर को ही देखा है, वह कल्पना नहीं कर सकता कि तूफानी सागर कैसा होता है और जिस व्यक्ति ने तूफानी सागर ही देखा, वह भी शान्त सागर की कल्पना नहीं कर सकता। शान्ति और तूफान–दोनों समुद्र नहीं हैं। किन्तु ये दोनों उसमें घटित होते हैं इसलिए ये समुद्र से सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं। समुद्र ही शान्त होता है और वही क्षुब्ध। यह अवस्था का परिवर्तन केवल समुद्र में ही नहीं होता किन्तु विश्व के प्रत्येक पदार्थ में होता है।

कुछ परिवर्तनों को हम पकड़ पाते है और बहुत सारे परिवर्तनों को हम देख ही नहीं पाते। प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन की अन्तहीन शृंखला है। उसे समझने के लिए अनन्त दृष्टिकोण अपेक्षित है। एक दृष्टिकोण से हम अनन्त ज्ञेयों को नहीं जान सकते। भगवान् महावीर ने परिवर्तन की मुख्य चार दृष्टियां प्रतिपादित की हैं–

द्रव्य–व्यक्ति

क्षेत्र–आकाश

काल–समय

भाव–पर्याय या गुणात्मक अवस्था

स्कन्दक ने भगवान् महावीर से पूछा–भंते! यह लोक सान्त है या अनन्त?

भगवान् ने कहा–स्कन्दक! लोक चार प्रकार का होता है–

१. द्रव्य लोक

२. क्षेत्र लोक

३ काल लोक

४. भाव लोक

द्रव्य की दृष्टि से लोक सान्त है क्योंकि वह एक है।

क्षेत्र की दृष्टि से वह सान्त है क्योंकि लोक का आकाश अनन्त नहीं है।

काल की दृष्टि से वह अनन्त है। वह अतीत मे लोक था, वर्तमान मे है और भविष्य में भी लोक होगा। यह लोक कभी नही था, ऐसा नही हुआ, यह लोक नहीं है; ऐसा भी नहीं है और यह कभी नही होगा, ऐसा भी नही है। यह था, है और होगा इसलिए अनन्त है।

भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है क्योकि उसमें अनन्त पर्याय घटित होते रहते है।

भगवान् ने जिस प्रकार चार दृष्टियों से लोक की व्याख्या की, वैसे सभी पदार्थो की इन चार दृष्टियों से व्याख्या की जा सकती है।

स्याद्वाद

वस्तु की व्याख्या अनन्त दृष्टियों से की जा सकती है। कारण कि उसमें अनन्त धर्म होते हैं। किन्तु व्याख्याता और शब्द दोनों की शक्ति सीमित है। व्याख्याता को इतना काल उपलब्ध नही होता कि वह अनन्त धर्मों की व्याख्या कर सके और एक शब्द एक क्षण में एक ही अर्थ को प्रकट कर सकता है इसलिए शब्द का भी यह सामर्थ्य नहीं है कि उससे वस्तु के अनन्त धर्मों का प्रतिपादन किया जा सके। इसीलिए हम लोग वस्तु के कुछेक धर्मों का कुछेक दृष्टिकोणों के द्वारा प्रतिपादन करते हैं और वास्तव में एक क्षण में एक शब्द द्वारा एक ही धर्म का प्रतिपादन करते है, इसका फलित यह हुआ कि हम खण्ड का प्रतिपादन करते है। अखण्ड का प्रतिपादन नहीं कर सकते–धर्म का प्रतिपादन करते है, धर्मी का प्रतिपादन नहीं कर सकते।

दूसरी ओर हम कहते हैं कि यह आत्मा है, यह परमाणु है, यह आकाश है, यह अखण्ड का प्रतिपादन है–यह धर्मी का प्रतिपादन है। यदि वक्ता और शब्द में अखण्ड वस्तु के प्रतिपादन की शक्ति नही है तो यह कैसे कहा जाता है कि यह आत्मा है और यह परमाणु है।

स्याद्वाद में किसी एकांगी सत्य का स्वीकार नही होता। अखण्ड वस्तु का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता–यह सापेक्ष तथ्य है। वस्तु के अनन्त धर्मों का प्रतिपादन करने की शक्ति किसी में नहीं है, इस दृष्टि से कहा जाता है कि अनन्त-धर्मात्मक वस्तु अवक्तव्य है। किन्तु उसे वक्तव्य बनाने की एक पद्धति भी है। स्याद्वाद के उपदेष्टाओं ने उसका आविष्कार किया है। उस पद्धति के अनुसार हर वस्तु का प्रतिपादन सापेक्ष होता है और उसका सूचक शब्द है–'स्यात्' ! इसका अर्थ है कथंचित्, किसी अपेक्षा से,

किसी दृष्टिकोण से। 'स्यात्' शब्द का अर्थ संशय भी होता है पर यहा इसका अर्थ संशय नहीं है। कुछ विद्वान् गतानुगतिकता के अनुसार इसका अर्थ संशय करते जाते है पर वह सर्वथा त्रुटिपूर्ण है।

स्याद्वाद के व्याख्याकारों ने कहा कि हर वस्तु के प्रतिपादन के साथ 'स्यात्' शब्द जुड़ा हुआ है। भले उसका स्पष्ट प्रयोग हो या न हो। 'स्यात्' शब्द इस बात की सूचना देता है कि एक मुख्य धर्म के माध्यम से अनन्त-धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन किया जा सकता है। आम पीला है, यह कहते ही जिस व्यक्ति ने आम को देखा है वह उस वर्ण के माध्यम से आम के रस, गन्ध, स्पर्श आदि धर्मो को स्वयं समझ जाता है और कहने वाला कह देता है। 'स्यात्' शब्द उसी समझ और वक्तव्यता का प्रतिनिधित्व करता है।

अस्तित्व और नास्तित्व

वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, यह अभिमत कुछ दार्शनिकों का है। जैन दर्शन का अभिमत इससे कुछ भिन्न है। उसका अभिमत है कि वस्तु में अनन्त विरोधी धर्मो के युगल होते है, जैसे-नित्यत्व और अनित्यत्व, सामान्य और विशेष, अस्तित्व और नास्तित्व, वाच्य और अवाच्य। इस प्रकार के विरोधी धर्मो के युगलों को स्वीकार कर जैन-दर्शन ने सहअस्तित्व का शिलान्यास किया है। यद्यपि साधारण बुद्धि मे यह बात नही बैठती कि अस्ति और नास्ति–ये दोनों एक साथ होते है। जहां अस्तित्व है वहां नास्तित्व कैसे होगा और जहां नास्तित्व है वहां अस्तित्व कैसे होगा? प्रकाश और अधकार एक साथ नहीं रहते। जहां प्रकाश होता है वहां अंधकार नहीं होता और जहा अंधकार होता है वहां प्रकाश नहीं होता किन्तु गहराई में जाने पर यह विरोध समाप्त हो जाता है।

स्याद्वाद का नियम यह है कि एक वस्तु में मिलने वाले धर्म सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न नहीं होते इसलिए उनमें सहानवस्थान जैसा विरोध नहीं होता। विरोध की प्रतीति निरपेक्षता की स्थिति में होती है किन्तु वे धर्म सापेक्ष होते है इसलिए उनमें सर्वथा विरोध नही होता। प्रकाश और अंधकार दोनों–सापेक्ष हैं, वैसे ही अस्तित्व और नास्तित्व–दोनों सापेक्ष है। अस्तित्व यदि–नास्तित्व धर्म के द्वारा सीमित न हो तो द्वैत हो ही नहीं सकता। घट है, यह उसके अस्तित्व का प्रतिपादन है। घट नहीं है, यह भी उसके अस्तित्व का प्रतिपादन है। घट से भिन्न पट आदि के परमाणु हैं, उनसे भी यदि घट निर्मित हो तो घट और पट में भेद नहीं किया जा सकता। फिर घट पट होगा। और पट घट होगा, घट और पट–ये दो नहीं होंगे। घट और पट–ये

दो है और इसीलिए दो है कि घट में जैसे अपने निर्माण मे प्रयुक्त परमाणुओ का अस्तित्व है वैसे ही पट के निर्माण में प्रयुक्त परमाणुओं का नास्तित्व भी है। ये अस्तित्व और नास्तित्व दोनों मिलकर ही घट को एक स्वतन्त्र आकार में प्रस्थापित करते है। उनमें विरोध इसलिए नहीं है कि जिस अपेक्षा से घट का अस्तित्व है उसी अपेक्षा से घट का नास्तित्व नहीं है। घट का अस्तित्व स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से है। उसका नास्तित्व परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से है। जैसे--

घट मिट्टी का है, सोने का नहीं है।

घट राजस्थान का है, उत्तर प्रदेश का नहीं है।

घट सरदी का बना हुआ है, गरमी का नही है।

घट काला है, लाल नही है।

इस प्रकार 'है' और 'नहीं'--इन दोनो धर्मो का सहअस्तित्व ही घट का अस्तित्व है। इस प्रकार सभी पदार्थ अस्तित्व-नास्तित्व आदि विरोधी धर्मो से जाने जा सकते है।

नित्य और अनित्य

दीप जला और बुझ गया। ऐसा लगता है कि वह समाप्त हो गया इसीलिए लोग कहते है कि यह वस्तु दीप की लौ की भांति नश्वर है पर थोड़े गहराई में उतरें तो पता चलेगा कि वह अनश्वर भी है। दीप की लौ बुझ गई पर उसके परमाणु नष्ट नहीं हुए।

स्याद्वाद के आचार्यो ने हर वस्तु की व्याख्या दो नयों से की है। जब पर्याय नय की दृष्टि से व्याख्या की तो उन्होंने कहा कि वस्तु अनित्य और द्रव्य नय की दृष्टि से व्याख्या की तो कहा कि वस्तु नित्य है। दोनो नय सापेक्ष है इसलिए उन्होंने कहा कि वस्तु नित्यानित्य है।

कर्मशास्त्र के विद्यार्थी से पूछिए कि कर्म फल कौन भोगता है? उसका उत्तर होगा कि जो कर्म करता है वही फल भोगता है। यह एक सामान्य बात है। द्रव्य नय की दृष्टि से देखें तो यह उचित भी है किन्तु पर्याय नय का मत इससे भिन्न है। उसके अनुसार कर्म कोई दूसरा करता है और उसका फल कोई दूसरा भोगता है। किसी ने जलनी में गलतियां कीं और बुढ़ापे मे फल भोगता है। इसका अर्थ यही हुआ कि गलती करने वाला जवान है और फल भोगने वाला बूढ़ा। मनुष्य बुरा आचरण करता है और वह पशु योनि में जन्म लेता है। बुरा आचरण किया मनुष्य ने और उसका फल भोग रहा है पशु। मनुष्य ने सत् आचरण किया और देव योनि में उत्पन्न हुआ। सत् आचरण किया मनुष्य ने और उसका फल भोग रहा है देव। मनुष्य और पशु तथा मनुष्य और देव एक नहीं है अत. पर्याय नय के इस निरूपण में औचित्य है कि कर्म कोई दूसरा करता है और उसका फल कोई दूसरा भोगता है। वस्तु के अनित्यांश की दृष्टि से यह सिद्धान्त उचित हो सकता

है किन्तु जब नित्यांश पर ध्यान देते है तब द्रव्य नय हमारे सामने आता है। उसके अनुसार जवानी और बुढ़ापा, मनुष्य और पशु तथा मनुष्य और देव–इन अवस्थाओ के पीछे जो चेतन तत्त्व है वह एक है इसलिए यह मानना उचित होगा कि जो कर्म करता है वही फल भोगता है। इस प्रकार दोनों नयों के भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। वे परस्पर विरोधी नही हैं किन्तु सापेक्ष है। दोनों का योग होने पर ही वस्तु की समग्रता को जाना जा सकता है और उसकी व्याख्या की जा सकती है।

सामान्य और विशेष

हम गाय और भैंस को देखते ही पहचान जाते है। क्योंकि उनमें विलक्षणता है–गाय से भैंस भिन्न है और भैंस से गाय। यदि वे सर्वथा भिन्न हों तो दोनों पशु नहीं हो सकते। गाय भी पशु है और भैस भी पशु है। पशुता की दृष्टि से दोनों अभिन्न भी है। यह अभेद और भेद, सादृश्य और वैसदृश्य, सामान्य और विशेष साथ-साथ चलते हैं। इस विषय में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो सर्वथा सदृश हो अथवा विसदृश।

महारानी देवकी के घर पर मुनियुगल आहार की एषणा के लिए आया। आहार लिया और चला गया। कुछ देर बाद दूसरा मुनियुगल आया। वह भी चला गया। थोडी देर बाद तीसरा युगल आया। महारानी देवकी ने आहार-दान के बाद पूछा–"मुनिप्रवर! क्या द्वारिका में आहार सुलभ नही है या लोगों में भावना की कमी है?" मुनियुगल ने कारण जानना चाहा तो महारानी देवकी ने कहा–"इसीलिए तो आप तीसरी बार मेरे घर पर आए हैं।" मुनियुगल ने कहा–"नही, हम पहली बार आए है।" महारानी देवकी मुनि की बात को झूठ भी नहीं मान सकती थी और यह मानने में भी उसे कठिनाई हो रही थी कि वे पहली बार आए है क्योकि वह अपने हाथ से तीन बार आहार का दान कर चुकी थी। सदृशता और विसदृशता को नहीं पकड़ने के कारण बहुत बार ऐसी कठिनाई हो जाती है। आखिर मुनियुगल ने कहा–"हम छह भाई हैं और सभी दीक्षित हैं। आकृति में हम समान हैं। हो सकता है कि दो युगल पहले आए हों और आकृति की समानता के कारण बार-बार आने का भ्रम हुआ हो।" छहो भाई समान थे पर यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वथा समान थे।

चेतन और अचेतन भिन्न हैं क्योंकि चेतन में अचेतन का और अचेन में चेतन का अत्यन्ताभाव है। फिर भी वे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। द्रव्यत्व की दृष्टि से दोनों सदृश है। चेतन भी द्रव्य है और अचेतन भी द्रव्य है। प्रमेयत्व की दृष्टि से भी दोनों सदृश हैं। चेतन भी प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, अचेतन भी प्रमाण के द्वारा जाना जाता है इसलिए दोनों ही प्रमेय है। स्याद्वाद की यह स्थापना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि विश्व का प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक या भेदाभेदात्मक है। न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है किन्तु भिन्नाभिन्न है।

वाच्य और अवाच्य

वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। उसके अनन्त धर्म जाने जा सकते हैं किन्तु कहे नहीं जा सकते। इसका तात्पर्य यह है कि जितना जाना जा सकता है उतना कहा नही जा सकता और जो कहा जाता है वह भी पूरा का पूरा गम्य नहीं होता।

'गिरा अनयन नयन बिनु वाणी'–संत तुलसीदास ने कहा है कि वाणी के नयन नहीं है, नयन के पास वाणी नहीं है। जो बोलता है वह देखता नहीं है और जो देखता है वह बोलता नहीं है। ज्ञान बहुत शक्तिशाली है किन्तु उसके पास शब्द नहीं हैं। जिसके पास शब्द है, जो बोलता है वह बहुत शक्तिशाली नहीं है। इसीलिए वेदान्त दर्शन का मत है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय है। महात्मा बुद्ध ने आत्मा, लोक आदि को अव्याकृत कहा है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि वे जिस रूप में है उस रूप में समग्रतया कहे नहीं जा सकते और असमग्र रूप में जो पकड़ा जाता है वह पूर्णत. सही नहीं होता। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा–"आत्मा अपद है। उसके लिए कोई पद नहीं है–**अपयस्स पयं णत्थि।**" उसका स्पर्श करने वाला कोई शब्द नहीं ! सारे शब्द वहां पहुंचने से पहले ही लौट आते है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि अखंड वस्तु अवक्तव्य या अवाच्य है।

भारतीय चिन्तन में आत्मविद्या को वचनातीत (वाणी का अविषय) कहा गया है। पुराने जमाने की घटना है–एक आत्मविद् के तीन पुत्र थे। वे तीनों आत्मविद्या का अध्ययन कर अपने घर आए। उसने तीनों की परीक्षा लेनी चाही। पहले से पूछा–"कहो, आत्मविद्या क्या है?" उसने आत्मविद्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पिता ने कहा, "तुम उत्तीर्ण

नही हो।'' फिर दूसरे से पूछा। उसने आत्मविद्या-विशारद ऋषियों का वर्णन किया। पिता ने कहा–''तुम भी उत्तीर्ण नहीं हो।'' फिर तीसरे से पूछा। वह मौन रहा। पिता के बार-बार आग्रह करने पर उसने उंगली के इशारे से वताया कि आत्मविद्या कहने की वस्तु नहीं है, वह अनुभव करने की वस्तु है। वह उत्तीर्ण हो गया।

जो कहा जाता है वह वस्तु का आंशिक स्वरूप होता है। उसी के आधार पर हम वस्तु को वचनीय, व्याकृत या वाच्य कह सकते है। वेदान्त ने ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा। बौद्ध दर्शन ने आत्मा आदि गूढ़ तत्त्वों को अव्याकृत कहा किन्तु स्याद्‌वाद का दृष्टिकोण इन दोनों से भिन्न है। उसके अनुसार अणु से लेकर परमात्मा तक के सभी तत्त्व समग्रता की दृष्टि से अनिर्वचनीय, अव्याकृत या अवाच्य हैं और आंशिकता की दृष्टि से वे वचनीय, व्याकृत या वाच्य हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु वाच्य भी है और अवाच्य भी है।

वस्तु की सापेक्षता

नित्यत्व और अनित्यत्व, अस्तित्व और नास्तित्व, सामान्य और विशेष तथा वाच्य और अवाच्य–ये चारों स्याद्वाद के मौलिक अंग है। आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें तत्त्वामृतपान के बाद होने वाला उद्गार कहा है–

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत् तदेव।
विपश्चितां नाथ! निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपम्परेयम्॥

ये चारों प्रत्येक वस्तु में घटित होते है। जैसे दीप जल रहा है। हवा का झोका आया और वह बुझ गया। दीखता है कि दीप अनित्य है। यदि वह नित्य होता तो बुझता क्यों? दीप के बुझ जाने पर भी उसके परमाणु नष्ट नहीं होते इसलिए यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नही कि दीप नित्य भी है।

सौ दीप जल रहे हैं। सब जल रहे है और प्रकाश दे रहे है, इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सब दीप समान है किन्तु सूक्ष्मता में जाने पर प्रतीत होगा कि कोई भी सामान नहीं है। किसी की शिखा ऊपर की ओर जा रही है, किसी की तिरछी। किसी की शिखा तेज है और किसी की मन्द। इस अपेक्षा से दीप समान भी है और असमान भी है।

दीप में प्रकाश है, ताप है, नित्यत्व है, अनित्यत्व है, अस्तित्व है, नास्तित्व है, सामान्य है, विशेष है–इन धर्मो से वह वाच्य है किन्तु उसमें इतने ही धर्म नहीं है। इन जैसे अनन्त धर्म और है। उनकी दृष्टि से वह अवाच्य भी है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु इन विरोधी युगलो का सापेक्ष समवाय है।

अनेकान्तवाद

वस्तु का प्रत्येक धर्म (अंश) अपेक्षा से ग्रहण करना चाहिए क्योंकि सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांश के साथ प्रतिबद्ध अनेक सत्यांशों को ठुकराकर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके लिए असत्यांश बनकर आता है।

दूसरो के प्रति ही नहीं किन्तु अपने विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझाने के साथ-साथ दूसरों को समझने की चेष्टा करो। यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसी का नाम है—बौद्धिक अहिसा।

चण्डकौशिक साप ने भगवान् महावीर के डंक मारे तब उन्होने सोचा—यह अज्ञानी है। इसलिए मुझे काट रहा है। इस दशा में इस पर क्रोध कैसे करूं? संगम ने भगवान् को कष्ट दिये। तब उन्होने सोचा कि यह मोह-विक्षिप्त है, इसलिए ऐसा जघन्य कार्य करता है। मै मोह-विक्षिप्त नही हू। इसलिए क्रोध करना उचित नही।

भगवान् ने चण्डकौशिक और अपने भक्तों को समान दृष्टि से देखा, इसलिए कि विश्व-मैत्री की अपेक्षा दोनो उनके समकक्ष मित्र थे। चण्डकौशिक अपनी उग्रता की अपेक्षा भगवान् का शत्रु माना जा सकता है किन्तु वह भगवान् की मैत्री की अपेक्षा उनका शत्रु नहीं माना जा सकता। यह बौद्धिक अहिसा है।

स्कन्दक संन्यासी को उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—विश्व सान्त भी है और अनन्त भी। दार्शनिक संघर्ष इस दृष्टि से बहुत सरलता से सुलझाये जा सकते है।

अनेकान्त दृष्टिलभ्य बौद्धिक अहिंसा का विकास किया जाए तो अन्य भी बहुत सारे संघर्ष टल सकते हैं।

जहां कहीं भय या द्वैधभाव बढ़ता है, उसका कारण एकान्त आग्रह ही है। एक रोगी कहे कि मिठाई बहुत हानिकारक वस्तु है–उस स्थिति में स्वस्थ व्यक्ति को एकाएक झेंपना नहीं चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभदायक या हानिकारक नहीं होती। उसकी लाभ और हानि की वृत्ति किसी व्यक्ति विशेष के साथ जुड़ने से बनती है। जहर किसी के लिए जहर है, वही किसी दूसरे के लिए अमृत होता है। परिस्थिति के परिवर्तन में जहर जिसके लिए जहर होता है, उसी के लिए अमृत भी बन जाता है।

अनेकान्त दृष्टि

भगवान् महावीर अपनी संत-मंडली सहित कयंगला नगरी में पधारे। पास ही एक सावत्थी (श्रावस्ती) नामक नगरी थी। लोगों का आवागमन होता रहता था। वहां एक स्कंदक नामक संन्यासी रहता था। वह प्रकाण्ड विद्वान् था। एक दिन पिंगल नामक निर्ग्रन्थ रास्ते में उससे मिल गया। उसने उससे कई प्रश्न किये–

१. लोक सांत है या अनन्त?

२. जीव सांत है या अनन्त?

३. सिद्धि सांत है या अनन्त?

४. वह कौन-सी मौत है जिससे जन्म-मरण छूटता है?

संन्यासी तत्त्वदर्शी था पर उससे एकाएक प्रश्नों का जवाब देते न दना। पिंगल ने दुबारा पूछा–'प्रश्न तो आपने सुन लिये होंगे?' स्कंदक फिर भी चुप रहा। पिंगल समझ गया कि प्रश्नों का समाधान नहीं मिल सकेगा। अतः वह अपने रास्ते चला गया। वास्तव में शास्त्रार्थ विचारों के आदान-प्रदान की भावना से किया जाना चाहिए, जय-पराजय की भावना से नहीं।

स्कंदक को रात में नींद नहीं आती, दिन को भोजन अच्छा नही लगता। सोचता–'मेरे लिए लज्जा की बात है कि मै जवाब नहीं दे सका। सारी पुस्तकें टटोलीं, पर प्रश्नों का कोई जवाब नहीं मिला। आखिर एक दिन सुना–भगवान् महावीर आये हुए है। वे त्रिकालज्ञ हैं–भूत, भविष्य, वर्तमान की बात को जानते हैं। अवश्य उनसे जवाब मिल जायेगा।

स्कंदक भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए रवाना...

भगवान् महावीर गौतम से बोले–'आज तुझे तुम्हारा पुराना मित्र

गौतम—पुराना मित्र कौन?

भगवान्—स्कंदक।

गौतम—कब, कहां और क्यों मिलेगा?

भगवान्—यहीं और अभी आ रहा है। उसके मन में ऐसे प्रश्न है।

गौतम उन्हें भगवान् महावीर के पास ले गए। वहां पहुंचते ही स्कंदक नतमस्तक हो गया। भगवान् ने उक्त प्रश्नों का जवाब देते हुए कहा—"लोक सांत भी, अनन्त भी। इसी तरह जीव और सिद्धि भी सांत और अनन्त है। मरण। बद्ध कर्मों का क्षय करते हुए मृत्यु का वरण करने वाला पंडित-मरण दो प्रकार का है—बालमरण और पंडित-मरण को प्राप्त होता है। वह संसार को घटाता है, जन्म-मरण से मुक्त होता है। बालमरण को प्राप्त होने वाला प्राणी संसार को बढ़ाता है। उसके जन्म-मरण की परम्परा चलती रहती है।"

सप्तभंगी

अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को जानने के दृष्टिकोण जैसे अनन्त हैं वैसे ही उसके प्रतिपादन के प्रकार भी अनन्त है। अनन्त की सूची बहुत लम्बी है। उसे पूरा करना संभव नहीं है पर कम-से-कम एक विरोधी युगल के प्रतिपादन में सात प्रकारों को जानना प्राथमिक बात है। इसी को स्याद्वाद के आचर्य सप्तभंगी वाद कहते है। यह जितना प्रसिद्ध है उतना ही व्यावहारिक है। यह उदाहरण के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

१. मोहन वक्ता है (स्यात् अस्ति एव)

२. मोहन वक्ता नहीं है (स्यात् नास्ति एव)

३. मोहन वक्ता है भी और नहीं भी (स्यात् अस्ति एव, स्यात् नास्ति एव)।

४. मोहन का वक्तृत्व अवक्तव्य है–एक क्षण मे उसकी अनेक विशेषताए कही नहीं जा सकतीं (स्यात् अवक्तव्य एव)।

५. मोहन वक्ता है और उसका वक्तृत्व अवक्तव्य भी है (स्यात् अस्ति एव, स्यात् अवक्तव्य एव)।

६. मोहन वक्ता नही है और उसका वक्तृत्व अवक्तव्य भी है (स्यात् नास्ति एव, स्यात् अवक्तव्य एव)।

७ मोहन वक्ता है भी, नहीं भी और उसका वक्तृत्व अवक्तव्य भी है (स्यात् अस्ति एव, स्यात नास्ति एव, स्यात अवक्तव्य एव)।

ये परस्पर-विरोधी लगने वाली वातें निरपेक्ष दृष्टि से देखे है किन्तु सापेक्ष दृष्टि से विमर्श करने पर ये सव सत्य है।

मोहन वक्ता है। यह भी सापेक्ष सत्य है। वह अपनी योग्यता के अनुरूप वक्ता है किन्तु देवेन्द्र की तुलना में वह वक्ता नहीं है। इन दोनों बातों को क्रमशः एक साथ भी कहा जा सकता है। किन्तु इन दोनों को एक क्षण में एक शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, इस अपेक्षा से यह अवक्तव्य है। जिस क्षण वह एक शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, उस क्षण हम कहते हैं कि मोहन वक्ता है तब उसके साथ अवक्तव्य भी अन्तर्गर्भित है। जिस क्षण हम कहते हैं कि मोहन वक्ता नहीं है, उस क्षण में भी अवक्तव्य अन्तर्गर्भित है। जिस क्षण हम कहते हैं कि मोहन वक्ता भी है और नहीं भी, उस क्षण मे भी अवक्तव्य अंतर्गर्भित है।

होना, नहीं होना और नहीं कहा जा सकना—ये सारे एक साथ ही रहते हैं किन्तु जिसे कहना अपेक्षित होता है उसे हम कह देते है और शेष की उपेक्षा कर देते हैं।

वस्तु-बोध की प्रक्रिया

मनुष्य के सामने कोई भी नयी वस्तु आती है, वह उसे जानना और समझना चाहता है। नयी वस्तु के प्रति जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। जिज्ञासा को समाहित भी किया जाता है। समाधान के कई प्रकार है। दार्शनिक तथ्यों को पक्ष, हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है। सामान्यतः वस्तु-बोध का सबसे अधिक सरल और स्पष्ट क्रम है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आधार। किसी भी वस्तु के बारे में प्रारंभिक रूप में जो जिज्ञासाएं पैदा होती है वे क्या, कहां, कब और कैसा—इन चार प्रश्नचिह्नों से व्यक्त होती है।

क्या ? द्रव्य : व्यक्ति
कहां ? क्षेत्र : आकाश
कब ? काल : समय
कैसा ? भाव : अवस्था

इन प्रश्नो के समाधान से वस्तु का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है; अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समझना बहुत आवश्यक है। इनके माध्यम से अपरिचित वस्तु या व्यक्ति सुपरिचित हो जाता है और जो पूर्व-परिचित है उसकी विस्तृत जानकारी मिल जाती है। भगवान् महावीर के बारे में हमें समझना है तो हम इस क्रम को काम में ले सकते है, जैसे—

द्रव्य—महावीर नामक व्यक्ति
क्षेत्र—उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर (बिहार)
काल—ई० पूर्व छठी शताब्दी
भाव—भगवान् महावीर अपने जीवनकाल में जिन-जिन ८

रहे, वे सब भाव के प्रतीक है।

भगवान् एक राजकुमार थे, मुनि थे, तपस्वी थे, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे, तीर्थकर थे, उपदेष्टा थे, धर्म-संघ के संस्थापक थे, आत्म-साधक थे।

इसी प्रकार हम जैन विश्व भारती को समझें–

द्रव्य–जैन विश्व भारती नामक संस्थान

क्षेत्र–लाडनूं (राजस्थान)

काल–वि०सं० २०२८ चैत्र शुक्ला ९ अथवा वर्तमान काल

भाव–साधना, शिक्षा और शोध का समन्वित रूप

भारत में बनी एक घड़ी के बारे में हमें जानना है, उसके लिए भी यही क्रम उपयुक्त होगा–

द्रव्य–घड़ी नामक वस्तु

क्षेत्र–भारत या उसका वह नगर जहां घड़ी बनी है।

काल–इस वर्ष बनी घड़ी का समय सन् १९७३

भाव–घड़ी छोटी है या बड़ी, हाथ-घड़ी है, जेब-घड़ी है, या दीवार-घड़ी। तारीख और वार बताने वाली है या नहीं, मिनट और सैकण्ड दोनो बताने वाली है या नहीं, उसका रंग कैसा है, किस प्रकार की है, आदि।

इस प्रकार किसी भी पदार्थ को हम इस क्रम से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। जैन दर्शन में वस्तु-बोध के लिए निक्षेप पद्धति और द्रव्य, क्षेत्र आदि पर आधारित पद्धति जिज्ञासु व्यक्ति की सारी उलझनें समाप्त कर देती है। वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के बोध में भी ये पद्धतियां सहयोगी है। इन पद्धतियों के सही बोध और सही उपयोग से व्यक्ति का ज्ञान विशद हो सकता है।

निश्चय और व्यवहार

धर्म और धर्म-संस्थान—ये दो चीजें है। धर्म आत्मा की निर्मलता है। धर्म-संस्थान तत्त्व की परंपरा का संवाहक है। वास्तव में धर्म अध्यात्म है—आत्मा की आंतरिक शक्ति या ज्योति है। व्यवहार में वह आचार-संहिता या नियम-संहिता है। ये निश्चय और व्यवहार—दोनों मिलकर धर्म के रथ को गतिशील रखते है। आचार्य ने कहा कि यदि तुम जिन मत को स्वीकार करना चाहते हो तो निश्चय और व्यवहार—दोनों को मत छोड़ो। निश्चय नय को छोड़ने पर सत्य की डोर हाथ से छूट जाती है और व्यवहार का लोप करने पर धर्मसंघ का विच्छेद हो जाता है।

धर्म मौलिक आवश्यकता है। उस आवश्यकता को बनाये रखने के लिए धर्म-संघ भी आवश्यक है। इसलिए दोनों का योग ही परिपूर्ण हो सकता है। धर्म-शून्य धर्म-संघ अधर्म को पोषण देता है। उससे व्यक्ति या समाज का कोई भला नहीं होता। धर्मसंघ-शून्य धर्म कोरा वैयक्तिक हो जाता है। उससे समुदाय का लाभ नहीं मिलता। इसलिए ये दोनो बिछुड़कर परिपूर्ण नहीं हो पाते। दोनों का सापेक्ष योग ही समाज के लिए हितकर होता है।

भगवान महावीर ने निश्चय और व्यवहार—दोनों को सापेक्ष महत्त्व दिया है। जहां साधना का पक्ष है वहां निश्चय को मुख्यता मिलनी ही चाहिए। व्यवहार उसकी आत्मा नही है किंतु उसका शरीर है। साधना का शरीर चले, उसमें कोई विघ्न-बाधा न आए, उसके लिए व्यवहार का भी बहुत मूल्य है। भगवान् महावीर ने गृहस्थ को साधु का आश्रय-स्थान कहा है। वह साधु की साधना में आधार बनता है। यह व्यवहार है,

गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने

इसका बहुत मूल्य है। शरीर को चलाना स्वयं व्यवहार है पर उसे चलाये बिना निश्चय की साधना संभव नहीं होती इसलिए व्यवहार का मूल्यांकन करना भी जरूरी है। एक बात बहुत ध्यान देने की है कि निश्चय का स्थान व्यवहार न ले और व्यवहार का स्थान निश्चय न ले। दोनों का अपना-अपना स्थान और अपनी-अपनी सीमाएं हैं। हम उनका उन्हीं में उपयोग करें। ऐसा करने पर संघ धर्म को बाधित नहीं करेगा और धर्म संघ की व्यर्थता सिद्ध नहीं करेगा।

धर्म का अनुशासन

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसिट्ठिं सुणेह मे।

मैं सिद्धों और मुनियों को भावपूर्वक नमस्कार कर उस अनुशासन का निरूपण कर रहा हूं जिसमें पदार्थ और धर्म का सम्यग् बोध प्राप्त है और जो तथ्य है। आप मुझे सुनें।

यह अनुशासन वर्तमान में जैन शासन के नाम से विश्रुत है। प्राचीन काल में यह निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से विश्रुत था। इसमें मनुष्य की प्रधानता है क्योंकि इस अनुशासन के अनुसार कोई एक भगवान् नहीं है किंतु हर मनुष्य में भगवान् बनने की क्षमता है और मनुष्य ही अपनी साधना के द्वारा भगवान् बनता है। इसीलिए आचार्य ने सिद्ध और मुनि को नमस्कार किया है। सिद्ध का पहला रूप मुनि है और मुनि की चरम परिणति सिद्ध है। मुनि और सिद्ध में अवस्था-भेद है किंतु वस्तु-भेद नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार धर्म के क्षेत्र में दो ही वंदनीय हैं–सिद्ध और मुनि। सिद्ध परम आत्मा है, इसलिए वंदनीय है और मुनि सिद्धत्व की साधना में संलग्न है, इसलिए वंदनीय है। नमस्कार महामंत्र में पंच परमेष्ठी की वंदना की गई है। वह इन्हीं दो पदों का विस्तार है।

वंदना मंगलाचरण है। यह उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। जीवन का उद्देश्य है सिद्ध होना–सब दिशाओं में सर्वथा कृतार्थ हो जाना। जिसके लिए कुछ भी करणीय और प्राप्तव्य शेष नही रहता, वह सिद्ध है। ऐसा होने के लिए पदार्थ और धर्म को जानना नितांत [illegible] अनुशासन एक प्रशिक्षण की पद्धति है। उसके माध्यम से वे [illegible]

गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने

और धर्म जाने जाते हैं। केवल जाने ही नहीं जाते, आत्मसात किए जाते है। अनुशासन का काम है—व्यक्ति के हृदय को शासित करना, उसके हृदय में ऐसे बीज बोना जो स्वयं अंकुरित और पल्लवित हो सकें। धर्मशासन का कार्य दूसरों पर शासन करना नहीं है किंतु उनमें आत्मानुशासन जागृत करना है। आत्मानुशासन के जागृत होने पर ही सही अर्थ में धर्म का शासन गतिशील बनता है।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

जैन धर्म के विभिन्न युगों में विभिन्न नाम रहे है। भगवान् महावीर के युग में इसका नाम निर्ग्रन्थ-प्रवचन था। भगवान् स्वयं निर्ग्रन्थ थे और उनके पास दीक्षित मुनि भी निर्ग्रन्थ थे। उनके पास कोई ग्रन्थि नहीं थी–न बाहर में परिग्रह और न भीतर में ममत्व की ग्रन्थि–गांठ। वे बाहरी और भीतरी दोनों ग्रन्थियों से मुक्त थे, इसीलिए निर्ग्रन्थ थे। जिसके भीतर कोई ग्रन्थि नहीं होती, उसका अनुभव और उसकी वाणी प्रवचन बन जाता है। दूसरों के लिए शिक्षा-सूत्र या प्रमाण बन जाता है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन ईश्वरीय सन्देश नहीं है। यह पुरुष का सन्देश है। पुरुष स्वयं ईश्वर है। जब उसका ईश्वरत्व सोया रहता है तब वह साधारण प्राणी होता है। जब उसका ईश्वरत्व जाग जाता है तब वह स्वयं ईश्वर बन जाता है। ग्रन्थि-मुक्त मनुष्य ईश्वर होता है। इस अर्थ में निर्ग्रन्थ प्रवचन को ईश्वरीय सन्देश कहा जा सकता है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन का मौलिक आधार सत्य है और उसकी मौलिक विशेषता भी सत्य है इसलिए हजारों-हजारों कण्ठों मे यह स्वर मुखरित हुआ था–**'इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं'**–यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है।

असंख्य लोगों ने इसे शिरोधार्य किया है। मनुष्य उसी तत्त्व को शिरोधार्य करता है जिसमें दुःख निवारण की क्षमता होती है। दुःख के दो प्रकार है–शारीरिक और मानसिक। निर्ग्रन्थ प्रवचन मे इन दोनों प्रकार के दुःखों को मिटाने की क्षमता है। मानसिक दुखों के निवारण का यह अचूक उपाय है ही। इससे शारीरिक दु.खों का भी निवारण किया जा सकता

गृहस्थ को भी उपदिष्ट है।

और सच तो यह है कि मानसिक दुःखों का निवारण होने पर शारीरिक दुःख बचते भी कहां हैं?

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन से शारीरिक और मानसिक–दोनों प्रकार के दुःख नष्ट होते हैं इसीलिए असंख्य श्रद्धालु कण्ठों से यह स्वर गूंजा था–**'इणमेव निग्गंथं पावयणं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं'**–यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सब दुःखों से मुक्ति पाने का मार्ग है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है

'इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं'–इस सूत्र में कहा गया है कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है। हर सम्प्रदाय यही कहता है कि हमारा मत सत्य है। अपने-अपने मत की सच्चाई की दुहाई देने के कारण ही असत्य को बढ़ावा मिलता है। भगवान् महावीर ने कहा था कि अनेकान्त सत्य है–एकांगी सत्य नहीं है। जो समग्र है, सर्वांगीण है, वह सत्य है। फिर सूत्रकार ने यह कैसे कहा कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है।

असत्य का हेतु है–ग्रन्थ। जिसके मन मे कोई ग्रन्थि नहीं होती, उलझन नहीं होती, वह निर्ग्रन्थ होता है। असत्य का आग्रह सबसे बड़ी ग्रन्थि, सबसे बड़ी उलझन और सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। जिसके मन की यह गांठ खुल जाती है, वह सत्य की सीमा में प्रवेश पा जाता है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन में किसी मत का आग्रह नहीं है। एकांगी दृष्टि का स्वीकार या निरूपण नहीं है। उसमें केवल सत्यग्राही दृष्टि का प्रतिपादन है इसलिए निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है। इसका अर्थ होता है कि अनेकान्त ही सत्य है या अनेकान्त द्वारा दृष्ट तत्त्व ही सत्य है।

निर्ग्रन्थ ऋजुता या अनाग्रह का प्रतीक है। राग, द्वेष, क्रोध, अभिमान आदि कारणो से व्यक्ति असत्य का स्वीकार या निरूपण तथा असत् का आग्रह करता है। अज्ञानी आदमी भी यह सब कुछ करता है। निर्ग्रन्थ ज्ञान और वीतरागता–दोनों की उपासना करता है। ज्ञानी और वीतराग का दृष्टिकोण सत्यग्राही होता है। इसलिए उसकी अनुभूति को–निर्ग्रन्थ प्रवचन को सत्य मानने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती।

जैन दर्शन में सत्य को किसी व्यक्ति-विशेष या परम्परा-विशेष के साथ

नहीं जोड़ा जाता किन्तु उसे गुणात्मक स्थिति के साथ जोड़ा जाता है। निर्ग्रन्थ कोई व्यक्ति या परम्परा नहीं है। वह एक गुणात्मक अवस्था या स्थिति है। जिसका अन्तःकरण ग्रन्थि-मुक्त हो जाए वह कहीं भी निर्ग्रन्थ हो सकता है। इस दृष्टि से भी निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है और यह कहने में भी कोई कठिनाई नहीं कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन ही प्रतिपूर्ण है

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन अनुत्तर है। अनेकान्त से बढ़कर कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं हो सकता इसलिए यह अनुत्तर है।

यह कैवलिक है। केवली या सर्वज्ञ द्वारा निरूपित है।

यह प्रतिपूर्ण है। अनेकान्त दृष्टि द्वारा अनन्त धर्म गृहीत होते है। वस्तु अनन्त-धर्मात्मक होती है और उसका समग्र रूप अनेकान्त के द्वारा ही गृहीत हो सकता है इसलिए यह निर्ग्रन्थ प्रवचन प्रतिपूर्ण है।

वेद का सिद्धान्त है—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**—सत् एक है, विद्वान् उसका नाना रूपों में प्रतिपादन करते है। अनेकान्त के सिद्धान्त के अनुसार कहा जा सकता है—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** और—**'अनेकं सद् विप्रा एकधा वदन्ति'**। सत् एक है और विद्वान् उसका बहु-रूपो मे प्रतिपादन करते है—यह अनेकान्त का व्यवहार नय है। सत् अनेक है और विद्वान् उसका एक रूप मे प्रतिपादन करते हैं—यह अनेकान्त का संग्रह नय है। दोनों नयों का योग होने पर ही अनेकान्त प्रतिपूर्ण होता है। समग्र सत्य को किसी एक दृष्टिकोण से नहीं पकड़ा जा सकता और किसी एक वचन-पद्धति से उसकी व्याख्या भी नहीं की जा सकती। उसे प्रतिपूर्ण दृष्टि से ही पकड़ा जा सकता है और प्रतिपूर्ण दृष्टि से ही उसकी व्याख्या की जा सकती है।

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन नैर्यात्रिक है—ले जाने वाला है, पार पहुचाने वाला है। ले जाने वाले कुछ हो सकते है किन्तु पार पहुंचाने वाले न हों तो उन्हें बहुत मूल्य नहीं दिया जा सकता। सत्यान्वेषी व्यक्ति का लक्ष्य अंतिम है—मोक्ष। वास्तव मे वही परम सत्य है। असत्य किसी को सत्य तक नहीं ले

जा सकता। सत्य ही व्यक्ति को परम सत्य तक ले जा सकता है। निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है इसलिए वह नैर्यात्रिक है—मोक्ष तक ले जाने वाला है।

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन संशुद्ध है। इसका साधन भी पवित्र है और साध्य भी पवित्र है इसलिए यह आदि और अन्त—दोनों में पवित्र है। मलिनता के लिए कहीं भी अवकाश नहीं है—'**इणमेव निग्गंथं पावयणं...अणुत्तर केवलियं पडिपुन्नं नेयाउयं संसुद्धं।**'

निर्ग्रन्थ प्रवचन दुःख-विमोचक

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन शल्य का शोधन करने वाला है। शरीर की भांति मन में भी शल्य होते है। जब तक शल्य होते है तब तक जीवन में व्रत का अवतरण नहीं होता। उमास्वाति ने ठीक लिखा है–'निःशल्योव्रती'–व्रती होने के लिए निःशल्य होना जरूरी है। शल्य और व्रत दोनों एक साथ नहीं हो सकते। निर्ग्रन्थ प्रवचन माया, निदान और मिथ्यादर्शन–इन सभी शल्यों को काट देता है इसीलिए इसे शल्यकर्तन कहा गया है।

यह मार्ग है। मार्ग व्यक्ति को मजिल तक पहुंचाता है। विभिन्न मंजिलें होती है और विभिन्न मार्ग। यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, निर्वाण का मार्ग है।

यह मुक्ति का वास्तविक मार्ग है। भ्रान्तिवश प्रतिपादित नहीं है। जो इस मार्ग पर चलता है, वह साध्य तक पहुंच जाता है। उसमें न कही भटकाव है और न कहीं यह लुप्त होता है किन्तु राजपथ की भांति सीधा साध्य तक चला जाता है।

विश्व की सारी प्रवृत्तियां दु.ख-विमोचन के लिए होती है। मनुष्य दु.ख को छोड़ना चाहता है और सुख को पाना चाहता है इसीलिए किसी भी क्षेत्र का कोई प्रवर्तक या संचालक है, वह जनता को दु.ख-मुक्ति का आश्वासन देकर ही अपने साथ चला सकता है। विश्व के सभी धर्मो और दर्शनो ने भी जनता को दु.ख-मुक्ति का आश्वासन दिया है। दुःख और सुख की अपनी-अपनी परिभाषा हो सकती है। किन्तु जो कार्य दु ख को न काटे वह धार्मिक नहीं हो सकता। धर्म-दर्शन की दृष्टि से जन्म दु ख है, बुढ़ापा दु.ख है, रोग दु ख है, मृत्यु दु.ख है। इन सब दुःखो का चक्र असत्य के द्वारा

चलता है। सत्य का साक्षात् होने पर यह चक्र समाप्त हो जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है और सत्य का साक्षात्कार कराने वाला है इसीलिए इसे सब दु:खों का विमोचन करने वाला कहा गया है–'**इणमेव निग्गंथं पावयणं...सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निव्वाणमग्गं निज्जाणमग्गं अवितह-मविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं।**'

श्रद्धा और आचरण

आचरण का पहला बिन्दु श्रद्धा है। श्रद्धा का अर्थ है–घनीभूत इच्छा। जिसक प्रति सघन इच्छा होती है, उसे सहज ही व्यवहार में लाने का प्रयत्न हो जाता है। श्रद्धा स्थिर होते ही प्रतीति में बदल जाती है। प्रतीति का अर्थ है–प्रत्यय, विश्वास या गुणात्मक शक्ति का विकास। प्रतीति का अगला चरण है–रुचि। रुचि अर्थात् प्रीति। जिसमें हमारी प्रतीति होती है, उसमे सहज ही प्रीति हो जाती है। प्रीति और आचरण में दूरी बहुत कम है। जिसमे हमारी प्रीति होती है उसका आचरण सहज हो जाता है।

यह प्रश्न बार-बार उभरता है कि धर्म का उपदेश लोग बहुत सुनते है पर उसका आचरण नहीं होता। इसका उत्तर बहुत साफ है पर पता नहीं इसे लोग क्यों नहीं समझ पाते है? धर्म का उपदेश सुनने और आचरण मे सीधा सम्बन्ध नही है बल्कि कहना चाहिए कि काफी दूरी है। उस दूरी को पाटे बिना धर्म के आचरण की आशा कैसे की जा सकती है? धर्म का उपदेश सुनना पर्याप्त नहीं है। सुनने के बाद उसमें श्रद्धा, फिर प्रतीति और फिर रुचि का निर्माण होना चाहिए। इतना होने पर फिर आचरण की बात आती है। जिसमे श्रद्धा नही बनी उसका आचरण कैसे होगा? जिसमें विश्वास पैदा नहीं हुआ, उसका आचरण कैसे होगा? आचरण की बात हमे श्रद्धा, प्रतीति या प्रीति के बाद ही सोचनी चाहिए।

एक बार आचरण हो जाता है तब श्रद्धा, प्रतीति और प्रीति की पुष्टि हो जाती है। फिर यह चक्र बन जाता है–श्रद्धा से आचरण तक यह घूमता रहता है।

चलता है। सत्य का साक्षात् होने पर यह चक्र समाप्त हो जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है और सत्य का साक्षात्कार कराने वाला है इसीलिए इसे सब दुःखों का विमोचन करने वाला कहा गया है–'**इणमेव निग्गंथं पावयणं...सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निव्वाणमग्गं निज्जाणमग्गं अवितह-मविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं।**'

श्रद्धा और आचरण

आचरण का पहला बिन्दु श्रद्धा है। श्रद्धा का अर्थ है–घनीभूत इच्छा। जिसक प्रति सघन इच्छा होती है, उसे सहज ही व्यवहार में लाने का प्रयत्न हो जाता है। श्रद्धा स्थिर होते ही प्रतीति में बदल जाती है। प्रतीति का अर्थ है-प्रत्यय, विश्वास या गुणात्मक शक्ति का विकास। प्रतीति का अगला चरण है–रुचि। रुचि अर्थात् प्रीति। जिसमें हमारी प्रतीति होती है, उसमें सहज ही प्रीति हो जाती है। प्रीति और आचरण में दूरी बहुत कम है। जिसमे हमारी प्रीति होती है उसका आचरण सहज हो जाता है।

यह प्रश्न बार-बार उभरता है कि धर्म का उपदेश लोग बहुत सुनते है पर उसका आचरण नहीं होता। इसका उत्तर बहुत साफ है पर पता नही इसे लोग क्यों नहीं समझ पाते है? धर्म का उपदेश सुनने और आचरण मे सीधा सम्बन्ध नही है बल्कि कहना चाहिए कि काफी दूरी है। उस दूरी को पाटे विना धर्म के आचरण की आशा कैसे की जा सकती है? धर्म का उपदेश सुनना पर्याप्त नही है। सुनने के बाद उसमें श्रद्धा, फिर प्रतीति और फिर रुचि का निर्माण होना चाहिए। इतना होने पर फिर आचरण की बात आती है। जिसमे श्रद्धा नहीं बनी उसका आचरण कैसे होगा? जिसमे विश्वास पैदा नही हुआ, उसका आचरण कैसे होगा? आचरण की बात हमें श्रद्धा, प्रतीति या प्रीति के बाद ही सोचनी चाहिए।

एक बार आचरण हो जाता है तब श्रद्धा, प्रतीति और प्रीति की पुष्टि हो जाती है। फिर यह चक्र बन जाता है–श्रद्धा से आचरण तक वह घूमता रहता है।

इसीलिए सूत्र ने कहा है—मैं उस धर्म के प्रति श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूं, प्रीति करता हूं और उसका आचण करता हूं—'**तं धम्मं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि फासेमि पालेमि अणुपालेमि।**''

श्रद्धा की निष्पत्ति

भगवान् महावीर प्रत्यक्षदर्शी थे। वे तत्त्व को देखते थे और जनहित के लिए उसका प्रतिपादन करते थे। हजारों-हजारो लोग उनकी प्रवचन-सभा मे आते और उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को सुनते। सुनने वाले प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। इसलिए उन्हे भगवान् की बात बहुत ही नयी और साथ-साथ उचित लगती। उनके मन में उस तत्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती। मेघकुमार आया। उसने भगवान् का प्रवचन सुना। सुनने के बाद कहा, "भते! मै अपके प्रवचन पर श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूं, प्रीति करता हू। यह सत्य है, तथ्य है, अवितथ है, वैसे ही है जैसे आप कह रहे है।" यह सत्य की श्रद्धा, प्रतीति और प्रीति बहुत लेगो में होती और अनेक लोग उसका आचरण भी करते।

श्रद्धा एकरूप होती है और आचरण में भेद हो जाता है। कुछ लोग भगवान् के धर्म को पूर्णरूपेण स्वीकार करते और कुछ लोग अंशतः। अंशतः स्वीकार करने वाले गृहस्थ ही रहते। वे अपनी भावना भगवान् के सामने स्पष्ट शब्दो में प्रस्तुत करते—"भंते! कुछ लोग घर को छोड़कर आपके सामने प्रव्रजित होते है किन्तु मुझमें घर को छोड़कर अणगार होने की क्षमता नही है। मै मुनि बनने में असमर्थ हूं, फिर भी आपका धर्म मुझे अच्छा लगा है। इसलिए मै पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत—इस प्रकार द्वादशविध गृहस्थ धर्म को स्वीकार करना चाहता हूं।" भगवान् का उत्तर होता—'जहासुह'—जैसी तुम्हारी इच्छा हो।

जीवन में श्रद्धा का होना कठिन है। भगवान् ने कहा भी है, "मनुष्य जन्म दुर्लभ है। उसमें भी धर्म का ज्ञान दुर्लभ है। ज्ञान होने पर भी श्रद्धा दुर्लभ है। श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण दुर्लभ है। आचरण श्रद्धा की निष्पत्ति है और श्रद्धा आचरण की उत्पत्ति है। उत्पत्ति और निष्पत्ति का योग ही मणि-कांचन योग है।"

आत्मा और परमात्मा

आत्मा और परमात्मा की चर्चा जितनी उलझन भरी है, उतनी ही सरल है। हर आत्मवादी आत्मा और परमात्मा के स्वरूप और आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया के बारे में जिज्ञासु रहता है। आत्मा ही परमात्मा है, यह एक तथ्य है। कुछ व्यक्ति इस तथ्य को नकारते हैं। उनके अभिमत से आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। इस सम्बन्ध में सापेक्ष दृष्टि से चिन्तन अपेक्षित है।

आत्मा और परमात्मा दो वस्तुएं है। दो नहीं होतीं तो दो शब्दों का प्रयोग क्यों होता? आत्मा भिन्न है और परमात्मा भिन्न है किन्तु यह मात्र अवस्था-भेद है। वस्तुतः आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा यदि परमात्मा नहीं है तो आत्मा परमात्मा बनेगी कैसे? जिस पदार्थ में जिस स्थिति की सत्ता ही नही होगी, वह उस रूप में कभी परिणत नहीं हो सकेगा। वही आत्मा परमात्मा बनेगी जिसमें परमात्मत्व की सत्ता है। आत्मा कोई भिन्न पदार्थ हो और परमात्मा कोई भिन्न पदार्थ हो तो फिर परमात्म पद पाने के लिए आत्म-साधना या आत्मोत्कर्ष की बांत समझ में नहीं आएगी।

मै आत्मा और परमात्मा को एक बन्द और खुले कमरे के रूप में देखता हूं। कमरा बन्द है। वर्षो से उसकी सफाई नही हुई। स्थान-स्थान पर जाले लटक रहे हैं, कूड़ा-करकट जमा हो रहा है, प्रकाश और धूप का प्रवेश करने का अवकाश नहीं है। उस कमरे में गर्मी है, सीलन है और बदबू आ रही है। यह कमरे की एक अवस्था है।

दूसरी अवस्था में बन्द कमरे को खोला गया। उसकी सफाई की गई। कूड़ा-करकट बाहर फेंक दिया गया, सारी खिड़कियां खोल दी गई। कमरा

प्रकाश से भर गया, वहां सूर्य की किरणें खेलने लगीं, सीलन समाप्त हो गई, दुर्गन्ध दूर हो गई, हवा ने प्रवेश पा लिया, वहां के वातावरण में पुलकन बिखर गई। स्वच्छता और मुक्तता। आवृत कमरा अनावृत हो गया।

क्या वे बन्द और खुले हुए कमरे दो हैं? नहीं, एक ही कमरा। अवस्था-भेद से दो रूपों में हमारे सामने आया। यही स्थिति आत्मा और परमात्मा की है। जब तक आत्मा का पूरा विकास नहीं होता, वह आत्मा है। पूरा विकास होते ही आत्मा परमात्मा बन जाती है। बीज और वृक्ष कभी दो होते है? बीज सुषुप्ति है और वृक्ष जागरण। बीज आवृत है और वृक्ष अनावरण। आत्मा वही है, जो परमात्मा है। आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, आनन्द है, वीर्य है किन्तु ये सब अपूर्ण हैं। ज्ञान और दर्शन अनन्त नहीं है। आनन्द अव्याबाध नहीं है। शक्ति असीम नहीं है। जिस क्षण इनमें परिपूर्णता आएगी, आत्मा परमात्मा बन जाएगी।

द्वन्द्व-मुक्ति का उपाय

मनुष्य के पास दो प्रकार की शक्ति होती है—सृजनात्मक और ध्वंसात्मक। सृजन सबको प्रिय है, पर वह है बहुत कठिन। ध्वंस कोई नहीं चाहता, फिर भी वह स्वाभाविक है। शक्ति प्राप्त करने के स्रोत अनेक है। आंख, कान और जिह्वा से देखने, सुनने और बोलने की शक्ति प्रवाहित होती है। वह शक्ति सृजन में प्रेरक बने तब तक प्रशस्य है। अन्यथा शक्ति का गोपन भी आवश्यक है। अध्यात्म-योगी सन्त यशोविजयजी ने इस मार्मिक सत्य को अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने अध्यात्मोपनिषद् ग्रन्थ में लिखा है–

"आत्मप्रवृत्तावतिजागरूकः
परप्रवृत्तौ बधिरान्धमूकः"

अपने जीवन के सन्दर्भ में अत्यन्त जागरूक रहो। आत्म-विमुख प्रवृत्तियों के लिए बहरे, अन्धे और गूंगे बन जाओ। इन दो वाक्यों में प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्पष्ट संकेत है। महात्मा गांधी को इस प्रसग से प्रेरणा मिली और उन्होंने तीन बन्दरों को अपना गुरु मान लिया। जागरूकतापूर्वक स्वीकृत, बहरापन, अन्धापन और गूंगापन भी सृजन की सम्भावना रखता है।

शक्ति-संगोपन की यह बात केवल योगियों और आदर्श जीवन जीने वालों के लिए ही नहीं, व्यवहार के धरातल पर चलने वाले हर व्यक्ति के लिए आवश्यक है। बल्कि उन लोगों के लिए अधिक आवश्यक है जो अफवाहों के बीच मे रहते है, कोलाहलमय वातावरण में जीते है और अध्यात्म की गहराई तक नहीं पहुंच पाए हैं।

व्यक्ति किसी कार्य में संलग्न हो, उसकी आंख, कान और वाणी का सीमित प्रयोग हितकर होता है। सीमा का अतिक्रमण अपेक्षित और अनपेक्षित का विवेक नहीं दे सकता। अपेक्षा का अतिक्रमण सृजन की शक्ति को ध्वंस मे परिणत कर देता है। ध्वंस न व्यक्ति का हित करता है और न समाज का। इसलिए शांति-प्राप्ति और उसके प्रयोग के सन्दर्भ में सोच-समझकर काम करना आवश्यक है।

मनुष्य के सामने कैसी ही परिस्थितियां क्यों न हों, कितनी ही अफवाहें उसके कानो से क्यों न गुजरती हों, वह अनपेक्षित बातों में रस न ले तो उस पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता। आवश्यकता से अधिक न देखो, न सुनो और न बोलो, इस सूत्र को रत्न की भांति स्वीकार करने वाला व्यक्ति कोलाहल मे रहकर निर्द्वन्द्व बना रह सकता है।

देहे दुक्खं महाफलं

मनुष्य जब तक वीतराग नहीं बनता, उसमें पूर्णता नहीं आती। अपूर्णता की स्थिति सन्देह को जन्म देती है। जिज्ञासा की पृष्ठभूमि पर खड़ा सन्देह व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाता है। किन्तु वह जब भ्रान्त धारणा में परिणत हो जाता है, तब तत्त्व को समझने में कठिनाई होती है।

जैन साधना पद्धति के बारे में एक धारणा बनी हुई है कि शरीर को कष्ट देना धर्म है। **'देहे दुक्खं महाफलं'**—इस आगम वाक्य को आधार मानकर उक्त धारां पुष्ट हुई है। पता नहीं इस धारणा का प्रचलन कब और कैसे हुआ? पर हुआ बहुत तीव्रता से। सम्भवतः जैन साधकों की कठिन चर्या ने इस मान्यता का उद्भव किया हो। कुछ भी हो, यह सही नहीं है।

'देहे. दुक्खं महाफलं' का अर्थ है—साधना-काल में शरीर में किसी प्रकार का दुःख उत्पन्न हो जाए, उसे समभाव से सहन करना महान लाभ का हेतु है। यदि अधिक कष्ट सहना ही अधिक धर्म होता तो महावेदना अल्पनिर्जरा के सिद्धान्त का क्या होगा? भगवती सूत्र में एक प्रसंग है। वहां गौतम स्वामी ने भगवान् के समक्ष एक प्रश्न उपस्थित किया—भगवन्! महावेदना से महानिर्जरा होती है और अल्पवेदना से अल्पनिर्जरा होती है; यह बात ठीक है?' भगवान् ने इस तथ्य को अस्वीकार किया और शिष्य को समाहित करने के लिए इसके चार भंग किए—

१. महावेदना : अल्पनिर्जरा
२. अल्पवेदना : महानिर्जरा
३. महावेदना : महानिर्जरा
४. अल्पवेदना : अल्पनिर्जरा

१. छठी और सातवीं नरकभूमि के जीव महावेदना भोगते हैं, पर वहां निर्जरा बहुत कम होती है।

२. शैलेशी अवस्था प्राप्त मुनियों के वेदना बहुत कम होती है, पर वहां कर्मों की विपुल निर्जरा होती है।

३. प्रतिमाधारी मुनि (गजसुकुमाल आदि) साधना-काल में महा-वेदना भोगते हैं और उससे कर्मों की विपुल निर्जरा होती है।

४. अनुत्तर विमान के देव बहुत थोड़ी वेदना का अनुभव करते हैं और उनके निर्जरा भी बहुत थोड़ी होती है।

अधिक कष्ट सहन करने से अधिक निर्जरा होती है, यह एकांगी दृष्टिकोण है। शरीर को कष्ट देना ही धर्म होता तो अज्ञान तप का निषेध क्यों किया जाता? कष्टों की स्थिति में मानसिक संतुलन निर्जरा का मूल हेतु है। कष्ट सहन करने की आदत डालना, उसके लिए शरीर को साधना आवश्यक है। समागम कष्टों से घबराना कायरता है किन्तु उन्हें आमन्त्रित कर मानसिक संक्लेश की स्थिति पैदा करना धर्म नहीं हो सकता। समता और सहिष्णुता धर्म है, इस तथ्य की अवगति के साथ भ्रान्त धारणा का निराकरण हो, यह अत्यन्त अपेक्षित है।

स्वतन्त्र चिन्तन का मूल्य

भारतवर्ष के लोग अनुकरणप्रिय अधिक हैं। कोई भी नयी बात सामने आती है, वे आंख मूंदकर उसके पीछे पड़ जाते हैं। इससे स्वतन्त्र चिंतन की क्षमता समाप्त हो जाती है। कोई भी प्रवाह व्यक्ति को अपने साथ तिनके की भांति बहा ले जाए और वह हाथ-पांव हिलाये बिना बहता चला जाए, यह जड़ता है। किसी भी परिस्थिति पर चिंतन किए बिना उसे स्वीकार कर लेना चिन्तन-शक्ति का दारिद्रय है।

किसी जगल में वृक्ष के नीचे एक लोमड़ी सो रही थी। सर-सर हवा चली और उसके ऊपर एक अखरोट-टूटकर गिर पड़ा। लोमड़ी चौंककर उठी और पीछे मुड़कर देखे बिना ही दौड़ने लगी। रास्ते में उसे एक खरगोश मिला। बेतहाशा भागती हुई लोमड़ी को देखकर वह चिल्लाया—'मौसी! क्या हुआ! आज कहां जा रही हो?' लोमड़ी हड़बड़ाती हुई बोली—'अरे! रोको मत, आकाश टूटकर गिर गया है।' खरगोश ने यह बात सुनी और वह भी लोमड़ी के साथ दौड़ने लगा।

आगे उन्हें एक गीदड़ मिला। गीदड़ ने उनको दौड़ते हुए देखा। उसे थोड़ा आश्चर्य हुआ। न वहां कोई शिकारी, न और कोई उपद्रव। फिर यह दौड़-धूप क्यों? वह उनके मार्ग में खड़ा हो गया और बोला—'आज मौसी-भानजे किस दावत में जा रहे हैं?' खरगोश ने उसकी बात सुनकर घिघियाते हुए कहा—'तुझे दावत सूझ रही है और हमारी जान खतरे मे है। देखता नहीं तू, आकाश गिर गया है।' यह सुनते ही गीदड़ के कान खड़े हो गये। वह भी उनके साथ हो गया।

लोमड़ी दौड़ती हुई घने जंगल में पहुंच गई। वहां उसे भालू, बाघ

आदि कई पशु मिले। जिसने भी आकाश टूट गिरने की बात सुनी, वही सिर पर पाव रखकर भागने लगा। जंगल में दावानल के प्रकोप से भी भयंकर दुर्घटना का आभास होने लगा। आकाश कहां गिरा? कैसे गिरा? किस पर गिरा? यह पूछने के लिए किसी को अवकाश नहीं था। बस, एक ही शब्द-प्रवाह बह रहा था—आकाश गिर गया; आकाश गिर गया... चारों ओर भय, आशंका, चीख और चिल्लाहटें... भागो, भागो, आकाश गिर गया...।

पशु-जगत् में ऐसी घटना घटित हो सकती है। मनुष्य जगत् में यदि ऐसा होने लगा तो पशु और मनुष्यता की दूरी समाप्त हो जायेगी। इसलिए स्वतत्र चितन की क्षमता का विकास आवश्यक है।

मानव-धर्म

मनुष्य धर्म क्यों करता है? स्वर्ग, वैभव और मुक्ति के लिए। नही, स्वर्ग और मुक्ति परोक्ष है। वैभव एक अधार्मिक के पास भी हो सकता है। धर्म सबसे पहले यदि कुछ देता है तो मानव को मानवता देता है। मानवता के बिना कोई मानव 'मानव' नहीं बन सकता है। मनुष्य दिन-प्रतिदिन मानवता को भूलता जा रहा है। जिस दिन वह मानवता को प्राप्त कर लेगा उसकी सारी समस्याएं स्वयं समाहित हो जाएंगी। मुक्ति पाने की चाह सबमें है पर मानवता के बिना मुक्ति कैसे हो सकती है? अणुव्रत मानवीय मूल्यों को पुनः प्रस्थापित करने वाला है। इसकी आचार-संहिता के अनुसार धर्म से वैभव और स्वर्ग मिलने की बात गौण है। इसका उद्देश्य है मनुष्य मात्र मे पवित्र मानवता का विकास करना। मानवता का विकास करने वाला धर्म किसी सम्प्रदाय या कटघरे में बंधा हुआ नहीं होता।

धर्म निर्विशेषण होता है। उसके पीछे कोई विशेषण जोड़ना ही हो तो वह 'मानव-धर्म' हो सकता है। लोग विश्व-धर्म की कल्पना करते है। मेरी दृष्टि में 'विश्व-धर्म' के रूप में मान्यता पाने वाला कोई धर्म है तो वह मानव-धर्म ही है।

मनुष्य धार्मिक कहलाने की इच्छा तो अवश्य रखता है पर वह मानवता का व्यवहार कब करता है? मानवता का विकास होता तो इतने हिसात्मक उपद्रव बढ़ने की स्थिति नहीं आती। सरकार और जनता दोनों ही हिंसात्मक उपद्रवों में हित नहीं मानते, पर दोनों ही एक-दूसरे के प्रति संदिग्ध हैं। राष्ट्र का उन्नयन तव तक नहीं हो सकता जब तक अविश्वास का अन्त नहीं होता है। विश्वास-और प्रेम प्राप्त होने पर व्यक्ति की मनोवृत्ति से बुराई

के भाव निकल जाते है।

एक जमींदार के घर में चोर आए। इधर-उधर खोजा पर उनको धन नहीं मिला। भूख से व्याकुल होकर वे अनाज के कोठों के पास गए और कोठों में से अनाज निकालकर खाने लगे। उनकी आहट पाकर एक बुढ़िया वहां आयी। वह मधुर सम्बोधन कर बोली–'रात का समय है, आप लोग इस समय क्यों आए? दिन में आते तो हम आपको अच्छा भोजन खिलाते, अच्छे और ताजे फल खिलाते। खैर, रसोई में गरम दूध अब भी पड़ा है, आप सब दूध पी लीजिए।' इतना कहकर वह रसोई में गयी और एक-एक गिलास दूध सबको पिलाया। बुढ़िया के इस व्यवहार का चोरों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। वे अपने कृत्यों पर लज्जित हुए तथा भविष्य में चोरी न करने का संकल्प लेकर चले गए।

इस उदाहरण से हम जान सकते है कि सद्व्यवहार से मनुष्य का जीवन कितनी जल्दी बदल सकता है। जिस मनुष्य का जीवन पवित्र होता है वही सही माने में पीड़ित मानवता को त्राण दे सकता है। पवित्रता के बिना किया गया अनुष्ठान आत्मा का विकास नहीं कर सकता।

संघीय संस्कार

जीवन को संस्कारित–परिमार्जित बनाने की प्रक्रिया का नाम है संस्कार। संस्कारों के कई स्तर है–वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि-आदि। तेरापंथ एक धर्म-संघ है। संघ की परम्पराओं में शालीनता है और संस्कार-दान की क्षमता है। हर परम्परा के पीछे उसका मनोवैज्ञानिक आधार है। उस आधार को न समझने से परम्पराओं के प्रति उपेक्षा के भाव पैदा हो जाते हैं। तेरापंथ संघ की मान्यताओं में आस्थाशील व्यक्ति के लिए संस्कारी होना आवश्यक है।

अपने धर्म-संघ का एक संस्कार है–एक आचार्य, एक आचार और एक निरूपण-पद्धति। आचार्य श्री भिक्षु ने संघ के उदयकाल में शिष्यों और अनुयायियों को यह संस्कार दिया। विरासत में प्राप्त उक्त संस्कार दो सौ वर्षो के बाद भी हमारे धर्म-संघ में एक मौलिक परम्परा के रूप में सम्मत है। इस सन्दर्भ में एक पद्य मैने लिखा है–

"एकाचार्य एक समाचारी, एक प्ररूपणापंथ
ओ नूतन अद्वैत निकाल्यो, वाह वाह भीखणजी संत"

एक आचार्य का नेतृत्व, एक आचार-पद्धति और एक तत्त्व-निरूपण की पद्धति। यह अद्वैत हमें यहीं उपलब्ध है। आचार्य भिक्षु ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से उस समय जो संस्कार दिये, उन्हीं का आलम्बन पाकर हम गति कर रहे हैं।

तेरापंथ विचारधारा की यह शृंखला समग्र समाज को एकसूत्रता देने वाली है। अज्ञान या प्रमाद के कारण जहां कहीं यह शृंखला शिथिल होती है, वहां कुछ अव्यवस्थाएं हो जाती हैं। जो व्यक्ति तेरा पंथी कहलाते है,

उनके लिए वे क्षण कसौटी के होते हैं। इस कसौटी पर वे ही खरे उतर सकते है, जो संस्कारी और आस्थाशील होते हैं।

सस्कारहीन व्यक्ति प्रवाहपाती बन जाता है। वह अपनी शालीन परम्पराओ को विस्मृत कर संघीय हितों से प्रतिकूल प्रवृत्ति कर सकता है। व्यक्ति-हित और संघ-हित की समन्विति के लिए यह आवश्यक है कि प्रारम्भ से ही धार्मिक संस्कारों को पुष्ट किया जाए। जन्म-घूंटी की भांति प्रारम्भ में प्राप्त संस्कारों का अपना प्रभाव होता है। इसमें धर्म-संघ की एकसूत्रता को बल मिलता है और व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में भटकने से वच जाता है।

श्रावक की भूमिका

साधना की प्रथम भूमिका का अधिकारी श्रावक होता है। उसमें रोचक और कारक–दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन होते हैं। वह धर्म में रुचि भी करता है और उसका आचरण भी करता है। उसे जीव और अजीव का ज्ञान होता है। जो जीव और अजीव को नहीं जानता उसे सही अर्थ में धर्म के प्रति रुचि नहीं हो सकती। जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह संयम को नहीं जान सकता–**'जीवा जीवे अयाणंतो कहं सो नाहिई संजमं'**। जीव-अजीव को जानने वाला ही संयम को जान सकता है–**'जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाहिइ संजमं'**। इन आधारभूत या मौलिक दो तत्त्वों को जानने वाला पुण्य-पाप को भी जान लेता है। इन्हें जानने का अर्थ है कि वह बन्ध को जान लेता है। जो बन्ध को जानता है, वह बन्ध के हेतु आश्रव को भी जान लेता है। जिसे बन्ध और बन्ध-हेतु का ज्ञान हो जाता है वह मोक्ष और मोक्ष-हेतु का ज्ञान भी कर लेता है। मोक्ष के हेतु दो है–संवर और निर्जरा।

इन सब तत्त्वों का ज्ञान करने वाला ही श्रावक होता है। जिसे तत्त्व का ज्ञान नहीं होता उसका धर्म के प्रति नैसर्गिक या अव्यक्त आकर्षण हो सकता है किन्तु उसके स्थायित्व पर भरोसा नहीं किया जा सकता। जो आकर्षण ज्ञानपूर्वक होता है वह सुदृढ़ और व्यक्त होता है। उससे दूसरों को भी प्रकाश मिल सकता है।

जैन धर्म में श्रावक की भूमिका का कम महत्त्व नहीं है। यद्यपि वह गृहस्थ होता है, परिवार का पालन-पोषण करता है, व्यवसाय करता है, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वाह करता है, फिर भी वह अपने जीवन में संयम की विशिष्ट साधना कर सकता है क्योंकि उसका विवेक

जागृत हो जाता है। उसका इन्द्रिय-संयम, मनः-संयम, वाक्-संयम और अनासक्त भाव कुछ भिक्षुओं के लिए भी अनुकरणीय हो सकता है। भगवान् महावीर ने कहा है—कुछ भिक्षुओं से गृहस्थ संयम-प्रधान होते हे-'**संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।**' साधना की दृष्टि से साधु की भूमिका बहुत ऊंची होती है किन्तु गृहस्थ की भूमिका का भी कम महत्त्व नहीं है, यदि जीवन में श्रावकत्व आए—रोचक और कारक सम्यग्दर्शन का समीचीन विकास हो।

श्रावक के मनोरथ (१)

हर चिन्तनशील व्यक्ति अपने जीवन का कोई उद्देश्य बनाता है और उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है। वह अपने प्रयत्न में तभी सफल हो सकता है जब उसकी पूर्ति के लिए उसके मन में तीव्र संकल्प उत्पन्न हो जाता है। जब तक उद्देश्य-पूर्ति का संकल्प सुदृढ़ नहीं होता, मानसिक प्यास प्रबल नहीं होती या मन में तड़प नहीं होती, तब तक उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। श्रावक के जीवन का उद्देश्य है–शान्तिपूर्ण जीवन और शान्तिपूर्ण मृत्यु। इसकी पूर्ति के लिए उसके तीन संकल्प होते है। उन्हें मनोरथ कहा जाता है।

जो संकल्प आत्मगत हो जाता है, वह विस्मृत नहीं होता। उसकी बार-बार स्मृति उभरती रहती है। श्रावक का पहला मनोरथ है–मै अल्प या बहुत, जो परिग्रह है उसका परित्याग कब करूंगा?

"कया णं अहं अप्पं वा बहुयं वा परिग्गहं परिचइस्सामि"

परिग्रह का विसर्जन शाश्वत सत्य है। आर्थिक समस्याओं के युग मे ही परिग्रह का विसर्जन आवश्यक नहीं है किन्तु सामाजिक सम्पदा की प्रचुरता के युग में भी वह आवश्यक है और नितान्त आवश्यक है क्योंकि जो व्यक्ति परिग्रह का अर्जन करता है और उसका विसर्जन नही करता, उसमें आसक्ति की मात्रा बढ़ती जाती है। वह शान्तिपूर्ण जीवन-यात्रा के लिए बहुत बड़ी बाधा है इसलिए परिग्रह का विसर्जन हर स्थिति में आवश्यक है।

जब खाद्य की समस्या होती है तब यह आह्वान किया जाता है कि खाद्य वस्तुओं का अपव्यय मत करो और कम-से-कम सप्ताह में एक बार

या एक दिन अन्न मत खाओ। यह उपयोगिता का दृष्टिकोण है किन्तु खाद्य-संयम का दृष्टिकोण नहीं है। यदि संयम का दृष्टिकोण हो तो अन्न कम हो या अधिक हो–सप्ताह में एक बार या एक दिन उसे छोड़ने का अभ्यास करना ही चाहिए। इसी प्रकार सम्पदा के अभाव की पूर्ति के लिए सम्पदा का विसर्जन–उपयोगिता का दृष्टिकोण है। संयम का दृष्टिकोण यह है कि सम्पदा कम हो या अधिक, उसका विसर्जन करना ही चाहिए।

श्रावक के मनोरथ (१)

हर चिन्तनशील व्यक्ति अपने जीवन का कोई उद्देश्य बनाता
पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है। वह अपने प्रयत्न में तभी सफ
है जब उसकी पूर्ति के लिए उसके मन में तीव्र संकल्प उत्पन्न
जब तक उद्देश्य-पूर्ति का संकल्प सुदृढ़ नहीं होता, मानसिक प्य
होती या मन में तड़प नहीं होती, तब तक उद्देश्य की सिद्धि
श्रावक के जीवन का उद्देश्य है—शान्तिपूर्ण जीवन और शा
इसकी पूर्ति के लिए उसके तीन संकल्प होते हैं। उन्हें मनोरथ
है।

जो संकल्प आत्मगत हो जाता है, वह विस्मृत नहीं होता।
बार स्मृति उभरती रहती है। श्रावक का पहला मनोरथ है—
बहुत, जो परिग्रह है उसका परित्याग कब करूंगा?

"कया णं अहं अप्पं वा बहुयं वा परिग्गहं परिचइस्सा

परिग्रह का विसर्जन शाश्वत सत्य है। आर्थिक समस्याओं
ही परिग्रह का विसर्जन आवश्यक नहीं है किन्तु सामाजिक
प्रचुरता के युग में भी वह आवश्यक है और नितान्त आवश्यक
जो व्यक्ति परिग्रह का अर्जन करता है और उसका विसर्जन न
उसमें आसक्ति की मात्रा बढ़ती जाती है। वह शान्तिपूर्ण जीव
लिए बहुत बडी बाधा है इसलिए परिग्रह का विसर्जन हर
आवश्यक है।

जब खाद्य की समस्या होती है तब यह आह्वान किया जा
खाद्य वस्तुओं का अपव्यय मत करो और कम-से-कम सप्ताह में

साथ था। योगी बहुत दूर चला गया। राजा ने वापस चलने की प्रार्थना की, पर वह नहीं लौटा। राजा ने पूछा—"इतने दिन आप महल में रहे तो आप में और मुझ में क्या फर्क रहा?" योगी बोला—"सिर्फ इतना-सा कि मै महल में रहा और तुम्हारे मन में महल रहता है।" दूसरी विचारधारा के लोग महल को छोड़ने की बात में विश्वास नहीं करते। उन्हें अलगाव पसन्द नहीं है।

संन्यास के बारे में दो दृष्टिकोण है। मूल बात में दोनों एकमत है। वाहरी जगत् में दोनों दो मत हैं। जो संन्यास की चर्या से जुड़ सके उसके लिए पहला विकल्प बहुत अच्छा है। जो उसकी चर्या से न जुड़ सके उसके लिए दूसरा विकल्प बहुत अच्छा है। व्यापक दूसरा विकल्प ही बन सकता है। मैने परिल्पना की है कि साठ वर्ष के बाद हर श्रावक को दूसरे विकल्प का संन्यास स्वीकार कर लेना ही चाहिए। वह व्यवहार के स्तर पर भले ही उपासक कहलाए किन्तु मानस के जगत् में सफल संन्यासी होगा। इसी बात को ध्यान में रखकर श्रावक यह चिन्तन करता है कि मै कब अगार को छोड़कर अनगार बनूंगा?

"कया णं अहं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारितं पव्वइस्सामि"

श्रावक के मनोरथ (२)

श्रावक का दूसरा मनोरथ है–अनगारता या संन्यास। संग्रह और हिसा का मूल अगार (घर) है। जो घर को छोड़ देता है वह संग्रह को छोड देता है। जो संग्रह को छोड़ देता है वह हिंसा को छोड देता है क्योकि दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। श्रावक गृहवासी होता है। वह घर को एकदम छोड भी नही पाता पर उसके मन में उसे छोड़ने की भावना बनी रहती है। एक दिन आता है कि वह घर का छोड़ भी देता है। कोई न छोड सके तो मानसिक स्तर पर उसे छोड़ने का प्रयत्न करता है।

घर छोड़ने की दो पद्धतियां रही हैं–

१. पहले मानसिक धरातल पर घर छोड़ना और फिर व्यवहार के धरातल पर भी उसे छोड़ देना।

२. मानसिक धरातल पर घर छोड देना। व्यवहार के धरातल पर न छोड पाने की स्थिति में भी उसे छोड़ने की भावना करते रहना।

पहली पद्धति में भीतरी और बाहरी रूप बदलते है। दूसरी पद्धति मे भीतरी रूप बदलता है, बाहरी रूप नहीं बदलता। केवल बाहरी रूप बदले, यह किसी को इष्ट नहीं है। यह सबको इष्ट है कि भीतरी रूप अवश्य बदले। भीतरी रूप बदल जाने पर बाहरी रूप के बदलने में सब एक मत नहीं हैं। कुछ लोग सोचते है कि भीतरी रूप के बदल जाने के साथ-साथ बाहरी रूप भी बदल जाना चाहिए। मन से घर की भावना छूट जाए तो काया से भी छूट जाए। कुछ लोग सोचतें हैं कि मन में घर न रहे, फिर काया से न छूटे तो भी कोई फर्क नहीं पडता। राजा ने एक योगी को निमंत्रित किया। वह उसके महल में रहा। एक दिन वह जंगल की ओर चला। राजा

लाभ को नहीं प्राप्त किया जा सकता। साधक व्यक्ति उसके साथ मध्यस्थता का व्यवहार करता है। जब तक वह साधना में सहयोगी बनता है तब तक उसका भरण-पोषण करता है; उसे चलाता है किन्तु साथ-साथ वह मूर्च्छा का हेतु न बने इसलिए उसे कसता भी जाता है। कभी भोजन देता है, कभी भोजन-नहीं देता और मृत्यु के निकट आने की स्थिति में उसका पोषण और भी कम कर देता है। उसका संलेखन कर देता है—उसे कृश कर देता है जिससे मृत्यु के समय शरीर को छोड़ने में कोई कठिनाई न हो, कोई मूर्च्छा का भाव न हो, भय न हो। संलेखना अमूर्च्छा, अभय और सत्य दर्शन का प्रयोग है।

श्रावक के मनोरथ (३)

जीवन और मृत्यु—ये दोनों मिलकर संसार-चक्र का निर्माण करते हैं। साधारण मनुष्य जीवन को प्रिय और मृत्यु को अप्रिय, जीवन को वरदान और मृत्यु को अभिशाप मानता है। किन्तु तत्त्वज्ञ की दृष्टि में यह अन्तर नहीं होता। वह जीवन में मृत्यु और मृत्यु में जीवन को देखता है। जो जीवन और मृत्यु—दोनों को एक साथ नहीं देखता, वह वस्तुतः तत्त्वज्ञ नहीं है।

साधारणतया मृत्यु को अप्रिय माना जाता है इसीलिए साधारण मनुष्य मृत्यु से भय खाता है। जो जीवन के क्षण में मृत्यु का दर्शन नहीं करेगा उसका मृत्यु से होने वाला भय कभी टूट नहीं सकता। भगवान् महावीर ने अभय की साधना का मंत्र दिया था। भगवान् ने कहा—"डरो मत। रोग से मत डरो। आतंक से मत डरो। बुढ़ापे से मत डरो और मौत से मत डरो। किसी से भी मत डरो।" इस अभय-सूत्र की एक कड़ी यह है कि मौत से मत डरो। किन्तु साधना के बिना मृत्यु का भय छूटता नहीं। मारणांतिक संलेखना मौत के भय को निरस्त करने की साधना है। इसीलिए श्रावक उसकी अभिलाषा करता है। यह उसका तीसरा मनोरथ (अभिलषणीय) है—"**कया णं अहं अपच्छिम-मारणंतियसंल्लेहणाझूसणा-झूसिते भत्तपाणपडियाइक्खिते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि।**"

जीवन का अर्थ है—प्राण-धारण। प्राण-धारण का माध्यम है शरीर। शरीर को धारण करना और उसे स्वस्थ बनाए रखना साधक के लिए भी जरूरी है क्योंकि उसके बिना साधना को विकसित नहीं किया जा सकता। वह अत्यन्त अपेक्षणीय और अत्यन्त उपेक्षणीय—दोनों नहीं है। अत्यन्त अपेक्षा से मोह उत्पन्न होता है और अत्यन्त उपेक्षा से उसके द्वारा होने वाले

लाभ को नहीं प्राप्त किया जा सकता। साधक व्यक्ति उसके साथ मध्यस्थता का व्यवहार करता है। जब तक वह साधना में सहयोगी बनता है तब तक उसका भरण-पोषण करता है; उसे चलाता है किन्तु साथ-साथ वह मूर्च्छा का हेतु न बने इसलिए उसे कसता भी जाता है। कभी भोजन देता है, कभी भोजन नहीं देता और मृत्यु के निकट आने की स्थिति में उसका पोषण और भी कम कर देता है। उसका संलेखन कर देता है—उसे कृश कर देता है जिससे मृत्यु के समय शरीर को छोड़ने में कोई कठिनाई न हो, कोई मूर्च्छा का भाव न हो, भय न हो। संलेखना अमूर्च्छा, अभय और सत्य दर्शन का प्रयोग है।

श्रावक जीवन के विश्राम (१)

लोग गतिशीलता से जितने परिचित हैं उतने स्थिति से परिचित नहीं है। काम से जितने परिचित हैं उतने विश्राम से परिचित नहीं है। काम का अपना मूल्य है पर विश्राम का मूल्य उससे कम नहीं है। और सही अर्थ में अच्छा काम वही कर सकता है जो विश्राम का मूल्य आंक लेता है। शरीर को विश्राम देने वाले मिल जाते हैं किन्तु ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मंत्री चर्चिल सोते-सोते काम करते थे। इसे वे अपने दीर्घ जीवन का रहस्य मानते थे। वाणी को विश्राम देने वाले लोग भी मिलते है। यह माना जाता है कि बोलने से शक्ति खर्च होती है। इसलिए कुछ लोग मौन भी करते है किन्तु मन को विश्राम देने वाले लोग बहुत कम मिलते हैं। जबकि जीवनी-शक्ति का सर्वाधिक ह्रास मन की चंचलता से होता है।

मनुष्य जागता है तब मन गतिशील रहता है। कुछ लोगों का मन इतना गतिशील हो जाता है कि वे सोना चाहते हुए भी सो नहीं पाते। जो व्यक्ति मन को विश्राम नहीं दे सकता वह इच्छाओं, आकांक्षाओं और वासनाओं को विश्राम कैसे दे सकता है? भगवान् महावीर ने कहा –**'सव्वत्थ विरतिं कुज्जा'**–सर्वत्र विरति करो–विश्राम करो। सबको विश्राम दो –शरीर को, वाणी को और मन को। विश्राम देना जीवन का व्रत है। भारतीय जीवन में व्रत का बहुत महत्त्व है। व्रती बनने वाला व्यक्ति और क्या करता है? केवल विश्राम देता है–इंद्रियों को, मन को, वाणी को और शरीर को। इन्द्रियों को विश्राम देने वाला बहुत सारी आसक्तियों और उनके निमित्त से होने वाली हिंसा से बच जाता है। मन को विश्राम देने वाला संकल्प-विकल्पों और उनके निमित्त से होने वाले हिंसा असत्य आदि अनेक दोषों से बच जाता है। वास्तव में संयम ही विश्राम है। उसी भित्ति पर भगवान् महावीर ने श्रावक के लिए चार विश्रामों (आश्वासों) का प्रतिपादन किया था।

श्रावक जीवन के विश्राम (२)

एक भारवाहक कधे पर भार उठाए चला जा रहा था। चलत-चलते कंधा भार से टूटने लगा तब उसने भार की गठरी दूसरे कंधे पर रख ली। उसे विश्राम का अनुभव हुआ।

वह आगे चला। काफी देर से चल रहा था और भार भी काफी था। इससे कष्ट का अनुभव हो रहा था। देहचिन्ता से मुक्त होने के लिए वह ठहरा। भार को एक ओर रख दिया। उसे फिर विश्राम का अनुभव हुआ।

वह फिर आगे चला। चलते-चलते थक गया। रास्ते में एक देवालय आया। वहां भार रखकर फिर विश्राम किया।

कुछ समय ठहरकर वह फिर आगे चला और चलत-चलते अपने स्थान पर पहुच गया। वहा-पहुंचते ही भार उतर गया और कन्धे हल्के हो गए। उसे पूर्ण विश्राम का अनुभव किया।

इस दुनिया में ऐसा व्यक्ति कौन होता है जो भार नहीं ढोता ? हर आदमी आसक्ति का भार ढोता है, वासना का भार ढोता है, चिता का भार ढोता है, अहंकार और ममकार का भार ढोता है। भार ढोने वाला हर व्यक्ति थकान का अनुभव करता है। जिसमें समझ का उदय हो जाता है वह भार को छोड़कर विश्राम करना चाहता है। वह शीलव्रत और गुणव्रत को स्वीकार कर लम्बे समय से आसक्ति के भार ढो रहे मानस को हल्का कर देता है। यहां से हल्का करने (भार मुक्ति) कि प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

वह फिर आगे बढ़ता है। विषमता के भार को कम करने के लिए समता की साधना (सामायिक) करता है और बार –बार हिंसा आदि से बचाव के लिए जागरूक होता है। वह कुछ समय के लिए मन को और अधिक

श्रावक जीवन के विश्राम (१)

लोग गतिशीलता से जितने परिचित हैं उतने स्थिति से परिचित नहीं हैं। का
से जितने परिचित है उतने विश्राम से परिचित नहीं है। काम का अपना मू
है पर विश्राम का मूल्य उससे कम नहीं है। और सही अर्थ में अच्छा क
वही कर सकता है जो विश्राम का मूल्य आंक लेता है। शरीर को विश्र
देने वाले मिल जाते हैं किन्तु ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मंत्री चर्चिल सो
सोते काम करते थे। इसे वे अपने दीर्घ जीवन का रहस्य मानते थे। वाण
को विश्राम देने वाले लोग भी मिलते है। यह माना जाता है कि बोलने
शक्ति खर्च होती है। इसलिए कुछ लोग मौन भी करते है किन्तु मन को विश्राम
देने वाले लोग बहुत कम मिलते हैं। जबकि जीवनी-शक्ति का सर्वाधिक ह्रास
मन की चंचलता से होता है।

मनुष्य जागता है तब मन गतिशील रहता है। कुछ लोगों का मन इतना गतिशील हो जाता है कि वे सोना चाहते हुए भी सो नहीं पाते। जो व्यक्ति मन को विश्राम नहीं दे सकता वह इच्छाओं, आकांक्षाओं और वासनाओं को विश्राम कैसे दे सकता है? भगवान् महावीर ने कहा –**'सव्वत्थ विरतिं कुज्जा'**–सर्वत्र विरति करो–विश्राम करो। सबको विश्राम दो –शरीर को, वाणी को और मन को। विश्राम देना जीवन का व्रत है। भारतीय जीवन में व्रत का बहुत महत्त्व है। व्रती बनने वाला व्यक्ति और क्या करता है? केवल विश्राम देता है–इंद्रियों को, मन को, वाणी को और शरीर को। इन्द्रियों को विश्राम देने वाला बहुत सारी आसक्तियों और उनके निमित्त से होने वाली हिंसा से बच जाता है। मन को विश्राम देने वाला संकल्प-विकल्पों और उनके निमित्त से होने वाले हिंसा असत्य आदि अनेक दोषों से बच जाता है। वास्तव में संयम ही विश्राम है। उसी भित्ति पर भगवान् महावीर ने श्रावक के लिए चार विश्रामों (आश्वासों) का प्रतिपादन किया था।

श्रावक की चार कक्षाएं

जैन परम्परा में साधना की मुख्य भूमिकाएं दो है –साधु और श्रावक। गौण भूमिकाएं अनेक हैं। साधुओं में भी स्थविरकल्पी, जिनकल्पी, प्रतिमाधारी, यथालंदक और परिहारविशुद्ध चारित्री –ये अनेक कक्षाएं होती थीं। इसी प्रकार श्रावको की भी भिन्न-भिन्न कक्षाएं थीं। कुछ श्रावक सुलभ-बोधि होते थे। उनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और व्रत नहीं होते थे किन्तु उन्हे धर्म अच्छा लगता था। बोधि सुलभ थी। ऋजुता प्राप्त थी इसलिए वे सुलभ-बोधि कहलाते थे। कही–कही उन्हें 'भद्रक' भी कहा गया है।

श्रावक की दूसरी कक्षा है –सम्यग्दृष्टि। इस कक्षा में व्रत नही होते किन्तु दर्शन और ज्ञान सम्यग् हो जाते। अनेक चक्रवर्तो, वासुदेव, बलदेव आदि सम्यग्दर्शी थे पर व्रती नहीं थे।

श्रावक की तीसरी कक्षा है –व्रती। इस कक्षा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और व्रत –ये तीनों प्राप्त होते। भगवान् महावीर के एक लाख उनसठ हजार व्रती श्रावक थे और तीन लाख अठारह हजार व्रती श्राविकाए थीं। यह उनके अनुयायियों की संख्या नहीं है। यह व्रतधर श्रावक-श्राविकाओं की संख्या है। इस कक्षा मे गृहस्थ पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत –इस बारह व्रत रूप धर्म का पालन करते थे।

श्रावक की चौथी कक्षा है –प्रतिमाधर। प्रतिमा का अर्थ साधना की विशिष्ट प्रक्रिया है। व्रती श्रावकों में जब साधना का विशिष्ट भाव जागृत होता तब वे प्रतिमाओं को स्वीकार करते थे। इस साधना के द्वारा साधुतुल्य स्थिति (जिसे 'श्रमणभूत' प्रतिमा कहा जाता है) तक पहुंच जाते।

भारमुक्त अनुभव क़रता है।

उसकी भारमुक्ति की भावना तीव्र हो जाती है तब वह और अधिक समय तक समता की साधना में संलग्न होता है। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि तिथियों में मानसिक विश्राम का अनुभव करता है।

भारमुक्ति की प्रक्रिया और आगे चलती है। जब वह मृत्यु की साधना (मारणांतिक संलेखना) का अभ्यास शुरू कर देता है तब वह मन के समग्र भार को रखकर बिलकुल हल्का हो जाता है।

मानसिक विश्राम के ये चार स्थान है जिन्हें स्वीकार कर श्रावक आसक्ति आदि के भार से मुक्त होता है और मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त करता है।

श्रावक की चार कक्षाएं

जैन परम्परा में साधना की मुख्य भूमिकाएं दो है –साधु और श्रावक। गौण भूमिकाएं अनेक हैं। साधुओं में भी स्थविरकल्पी, जिनकल्पी, प्रतिमाधारी, यथालंदक और परिहारविशुद्ध चारित्री –ये अनेक कक्षाएं होती थीं। इसी प्रकार श्रावकों की भी भिन्न-भिन्न कक्षाएं थीं। कुछ श्रावक सुलभ-बोधि होते थे। उनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और व्रत नहीं होते थे किन्तु उन्हें धर्म अच्छा लगता था। बोधि सुलभ थी। ऋजुता प्राप्त थी इसलिए वे सुलभ-बोधि कहलाते थे। कही–कहीं उन्हें 'भद्रक' भी कहा गया है।

श्रावक की दूसरी कक्षा है –सम्यग्दृष्टि। इस कक्षा मे व्रत नहीं होते किन्तु दर्शन और ज्ञान सम्यग् हो जाते। अनेक चक्रवर्तो, वासुदेव, बलदेव आदि सम्यग्दर्शी थे पर व्रती नहीं थे।

श्रावक की तीसरी कक्षा है –व्रती। इस कक्षा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और व्रत –ये तीनों प्राप्त होते। भगवान् महावीर के एक लाख उनसठ हजार व्रती श्रावक थे और तीन लाख अठारह हजार व्रती श्राविकाएं थीं। यह उनके अनुयायियों की संख्या नहीं है। यह व्रतधर श्रावक-श्राविकाओं की संख्या है। इस कक्षा में गृहस्थ पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत –इस बारह व्रत रूप धर्म का पालन करते थे।

श्रावक की चौथी कक्षा है –प्रतिमाधर। प्रतिमा का अर्थ साधना की विशिष्ट प्रक्रिया है। व्रती श्रावकों में जब साधना का विशिष्ट भाव जागृत होता तब वे प्रतिमाओं को स्वीकार करते थे। इस साधना के द्वारा साधुतुल्य स्थिति (जिसे 'श्रमणभूत' प्रतिमा कहा जाता है) तक पहुंच जाते।

इन कक्षाओं का निर्माण साधक की क्षमता, रुचि और विकास के आधार पर किया गया है। यह बहुत मनोवैज्ञानिक उपक्रम है। क्षमता आदि भिन्नता होने पर भी साधना का भाव हर व्यक्ति में होना चाहिए और वह होता है तो क्षमता आदि भी क्रमशः विकसित हो जाते हैं। यह साधना का क्रमिक विकास जैन परम्परा की अपूर्व देन है।

श्रावक के गुण

हिसा और परिग्रह दोनों परस्पर जुडे हुए हैं। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य हिसा करता है किन्तु वह अधिक हिसा परिग्रह के लिए करता है। परिग्रह महान होता है, हिसा भी महान होती है। परिग्रह अल्प होता है, हिसा भी अल्प होती है। परिग्रह नहीं होता है, हिसा भी नहीं होती है। इच्छा महान होती है तब परिग्रह महान् होता है। इच्छा अल्प होती है तब परिग्रह अल्प होता है। इच्छा नहीं होती तब परिग्रह भी नहीं होता।

महा हिसा	महा परिग्रह	महान इच्छा
अल्प हिसा	अल्प परिग्रह	अल्प इच्छा
अहिसा	अपरिग्रह	अनिच्छा

इच्छा से परिग्रह और परिग्रह से हिंसा –यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक दृष्टिकोण मे परिवर्तन नहीं आता, जीवन में व्रत नही आता। अव्रती मनुष्य महा हिसा और महा परिग्रहवाला होता है क्योंकि उसकी इच्छाएं असीम होती हैं। जैसे ही इच्छाओं का संयम होता है, व्यक्ति व्रती वन जाता है। वह परिग्रह को अल्प कर देता है और जैसे ही परिग्रह अल्प होता है, हिसा की संभावनाएं भी अल्प हो जाती है।

अल्प हिंसा और अल्प परिग्रह –ये दोनो व्रती श्रावक के प्राथमिक गुण है। हिसा और परिग्रह –ये दोनो साधना में अवरोध पैदा करते है। भगवान् महावीर ने स्थानांग सूत्र में कहा गया है –हिसा और परिग्रह को छोड़े बिना कोई व्यक्ति धर्म सुनने की अर्हता प्राप्त नहीं कर सकता। बोधि को प्राप्त

नहीं कर सकता। श्रावक या साधु नहीं हो सकता। ज्ञानी या विशिष्ट ज्ञानी नहीं हो सकता।

मनुष्य की इच्छाएं असीम होती है—**'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया'**। वह विश्वभर की संपदा से भी पूर्ण नहीं होती। भगवान् ने कहा –

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असंखया
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया

कदाचित् सोने और चांदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत हो जाएं तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता।

जो व्यक्ति इस असीम इच्छा को सीमित कर परिग्रह और हिंसा की अल्पता को साध लेता है। वह सचमुच साधना के मार्ग में अपने चरण आगे बढ़ा देता है—श्रावक बन जाता है। इसलिए भगवान् ने श्रावक के प्राथमिक गुण बतलाए है –**अप्पेच्छा अप्पपरिग्गहा, अप्पारंभा** –श्रावक अल्प इच्छा वाले, अल्प परिग्रह वाले और अल्प आरंभ वाले होते है।

श्रावक की आत्म-निर्भरता

धार्मिक गृहस्थ के लिए श्रावक और श्रमणोपासक –ये दोनों शब्द प्रचलित हैं। श्रावक का अर्थ होता है –सुनने वाला। वैसे तो हर कोई व्यक्ति जिसके कान होता है, वह सुनता है। जो सुनता है वही श्रावक नहीं होता। श्रावक वह होता है जो उस बात को सुनता है जिसे हर कोई नहीं सुनता। वह तत्त्व को सुनता है। वास्तव में तत्त्व का श्रोता ही श्रावक है। उसका दूसरा नाम 'श्रमणोपासक' है। वह श्रमण की उपासना करता है –उनके पास बैठता है इसलिए वह श्रमणोपासक कहलाता है। श्रमण की उपासना से होने वाले लाभों में प्रथम लाभ 'श्रवण' है। इसलिए श्रावक नाम बहुत सार्थक है। और वह श्रवण श्रमण की उपासना करने से होता है इसलिए उसका 'श्रमणोपासक' नाम भी सार्थक है।

जो गृहस्थ श्रावक या श्रमणोपासक होता है, उसके विचार, आचार और व्यवहार विशेष प्रकार के हो जाते है क्योंकि वह श्रवण की उपासना करता है–इसका फलित यह हो जाता है कि वह श्रामण्य की उपासना करता है –श्रामण्य के निकट जाने का प्रयत्न करता है; श्रमण होने की दिशा में गतिशील होता है। इसलिए वह 'सहायानपेक्षी' बन जाता है। आत्मनिर्भरता उसके लिए मुख्य हो जाती है। साधारण स्थिति की बात तो दूर, कठिन परिस्थिति आ जाने पर भी वह दूसरों की सहायता की इच्छा नहीं करता। किसी लौकिक देवता के सहयोग की भी अपेक्षा नहीं करता। जो स्थिति आती है उसे स्वयं झेलता है, अपने ही पुरुषार्थ को प्रदीप्त करता है किन्तु दूसरों की शरण मे जाने की नहीं सोचता। जिस व्यक्ति ने श्रद्धा के साथ अर्हत् (अरहन्त) की शरण स्वीकार की है; सिद्ध की शरण स्वीकार की है; साधु

और धर्म की शरण स्वीकार की है; वह दूसरों की शरण में जा ही कैसे सकता है ?

श्रावक धर्मज्ञ और मर्मज्ञ होता है इसलिए वह अपनी आत्मा या परमात्मा की ही अपेक्षा रखता है। वह दूसरों की अपेक्षा नहीं रखता। धार्मिक निष्ठा की यह बहुत बड़ी कसौटी है। भगवान् महावीर के अनेक श्रावक इस कसौटी पर खरे उतरे है।

श्रावक के त्याग

जैन मुनि संसार-परिभ्रमण में हेतुभूत सब सपाप प्रवृत्तियों का त्याग करते हैं। इनके त्याग का कोई विकल्प या भंग नहीं होता। इसलिए इनका त्याग तीन योग और तीन करण से होता है। योग का अर्थ है सावद्य व्यापार और करण का अर्थ है साधन। मन,वचन और शरीर प्रवृत्ति के साधन हैं। जैन मुनि इन तीनों साधनों से पाप कर्म करने, करवाने और उसका अनुमोदन करने का प्रत्याख्यान करते है।

श्रावक के त्याग सविकल्पक है। अधिक-से-अधिक विकल्प उन्चास तक हो सकते है। इन विकल्पों के आधार योग और करण हैं। प्रथम विकल्प यानी त्याग की न्यूनतम अवस्था एक योग और एक करण है; जैसे–एक व्यक्ति हिंसा का त्याग करता है। एक योग और एक करण से हिंसा छोडने का अर्थ है–हिंसा नहीं करना शरीर से। इस त्याग में हिंसा के तीन साधनो मे एक शरीर पर नियन्त्रण हुआ है। मन और वचन यहां सावकाश है। इसी प्रकार हिंसा करने पर रोक हुई है; करवाना और अनुमोदन करना खुला है। श्रावक के त्याग का अन्तिम विकल्प यानी उत्कृष्ट रूप तीन योग और तीन करण से हो सकता है।

वर्तमान में सामान्यत; श्रावक के प्रत्याख्यान दो योग और तीन करण से किये जाते है। यह छह कोटि त्याग कहलाता है। किन्तु इस त्याग का पालन [illegible] कोटि से होता है। प्राचीन परम्परा में श्रावक की सामायिक आठ कोटि [illegible] में करने की विधि रही है। छह कोटि और आठ कोटि के विकल्पों में [illegible] दो सम्प्रदाय खडे हो गये। इन सम्प्रदायों का अस्तित्व आज भी है। [illegible] कोटि त्याग की भाषा है –न करेमि न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा।

न करना, न करवाना –मन, वचन और शरीर से। आठ कोटि में उपर्युक्त भाषा के साथ जोड़ा जायेगा –करंतं पि न समणुजाणामि वयसा, कायसा। करते हुए का अनुमोदन नहीं करना–वचन और काया से। त्याग के इन विकल्पों को अच्छी प्रकार समझने वाला श्रावक पापकारी प्रवृत्तियों से अपने आपका बहुत बचाव कर सकता है।

अंर्हन्नक की आस्था

र्हन्नक एक धर्मनिष्ठ श्रावक था। उसने धर्म का आशय समझा था अतः
उसके लिए धर्म ही सब कुछ था। एक बार वह व्यापार के लिए जलपोत
द्वारा समुद्र-यात्रा कर रहा था। उसका पोत समुद्र के मध्य पहुंच गया। वहां
उसके सामने एक देव उपस्थित हुआ। उसका रूप बहुत उद्धत और विकराल
लग रहा था। उसने अर्हन्नक से कहा–"तुम धर्म को छोड़ दो। अगर नहीं
छोड़ोगे तो मै तुम्हारे पोत को समुद्र में डुबो दूंगा।" अर्हन्नक इस अकल्पित
घटना से आश्चर्य में डूब गया किन्तु उसके मन में कोई प्रकम्पन पैदा नहीं
हुआ। वह जीवन और मृत्यु के रहस्य को समझ चुका था इसलिए जीवन
का मोह और मृत्यु का भय–दोनों को पार कर चुका था। उसने बहुत ही
धीर, गम्भीर स्वर मे कहा–"देव! मै धर्म को नही छोड़ सकता। उसे क्या
छोड़ूं? वह छोड़ने की वस्तु ही नहीं है। मैं धर्म से अभिन्न हूं, फिर मै उसे
छोड़ भी कैसे सकता हूं?" देव ने क्रुद्ध स्वर में कहा–"मै इन सब बातों
को नही जानता। मैं तो एक ही बात कहता हूं कि तुम धर्म को छोड़ दो।
अगर नही छोड़ोगे तो इस पोत को समुद्र में डुबो दूंगा।" देवता की क्रूर
चेतावनी से पोत के सारे यात्री कांपने लगे। वे करुण स्वर में बोले–"हम
सब धर्म को छोड़ देंगे। तुम हमें शरण दो और इस पोत को मत डुबाओ।"
उन्होंने अर्हन्नक से कहा–"तुम इतनी जिद क्यों करते हो? एक बार कह
दो कि मैने धर्म छोड़ दिया। इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है? हम सबके प्राण
बच जाएंगे और तुम अपनी जिद पर अड़े रहोगे तो पोत के सारे यात्री मारे
जाएंगे।"

अर्हन्नक बड़ी मुसीबत में फंस गया। वह अपने साथियों को समझाने

लगा–"धर्म को कैसे छोड़ू? मैंने धर्म को समझा है, फिर मैं दूसरे की शरण कैसे स्वीकार करूं? मुझे इस बात का दुःख है कि मेरे कारण आप सब मुसीबत में फंस रहे हैं। मैं चाहता हूं कि मेरे विचार का परिणाम मैं ही भुगतूं। आप लोगों को नहीं भुगतना पड़े। पर धर्म को छोड़ मै किसी दूसरे की शरण में नहीं जा सकता।"

अर्हन्नक की इस दृढ़ प्रतिज्ञा ने देव को विचलित कर दिया। वह अधीर हो उठा। उसने अर्हन्नक का पोत आकाश में उठा लिया और बोला–"अर्हन्नक! अब भी तुम मेरी बात मान लो, नहीं तो सब मारे जाओगे।" अर्हन्नक मौत के मुंह में जाकर भी विचलित नहीं हुआ। देव ने देखा और उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर देखा कि अर्हन्नक अब भी वैसे ही अभय और धर्मनिष्ठ है। देव का हृदय बदल गया। जलपोत समुद्र के तल पर आकर टिक गया और देव अर्हन्नक के चरणों में लुट गया। सब लोग इस दृश्य को आश्चर्यपूर्ण आंखों से देखते रहे।

अल्प हिंसा : महा हिंसा

अल्प हिंसा और अल्प परिग्रह की परिभाषा क्या है ? महा हिंसा और महा परिग्रह किसे कहा जाए ? यह प्रश्न बहुधा उपस्थित होता है। इसका उत्तर संख्या में देना बड़ा कठिन है। जिस व्यक्ति के पास इतने हजार और इतने लाख रुपये हों–वह अल्प परिग्रही और जिसके पास इतने करोड़ रुपये –वह महा परिग्रही, ऐसी कोई सीमा प्राचीन साहित्य में प्राप्त नहीं है। वर्तमान में जैसे शहरी सम्पत्ति की सीमा के नियमन की चर्चा चल रही है, वैसी चर्चा प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। परिग्रह की सीमा करनी चाहिए , इच्छा का परिमाण करना चाहिए–इसकी चर्चा मिलती है किन्तु कितने से अधिक परिग्रह न रखा जाए–ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इस स्थिति में अल्प परिग्रह और महा परिग्रह की सीमा व्यवहार पर ही निर्धारित होगी।

जिस व्यक्ति के मन में आकांक्षा और आवश्यकता का बोध स्पष्ट हो जाता है, जो आकांक्षा की पूर्ति के लिए धन का संग्रह नहीं करता किन्तु मात्र आवश्यकता की पूर्ति के लिए करता है उसकी इच्छा अल्प इच्छा कहलाती है और उसका परिग्रह अल्प परिग्रह कहलाता है। जिसकी इच्छा अल्प और जिसके पास परिग्रह अल्प होता है वह बड़ी हिंसा के आधार को ही समाप्त कर देते है क्योंकि दुनिया में प्रायः बड़ी हिसाएं परिग्रह के निमित्त से ही होती है। जिनमे व्यक्तिगत अर्थ-संग्रह की भावना प्रबल नहीं होती वे अपने लिए महान प्रयत्न करना आवश्यक नहीं समझते। जितने प्रयत्न होते हैं, वे एक प्रकार से इच्छा के प्रतिबिम्ब होते हैं।

भगवान् महावीर के आनन्द, सद्दालपुत्त आदि अनेक श्रावक थे। आनन्द बहुत बड़ी कृषि करता था। उसके पांच सौ हल चलते थे। सद्दालपुत्त कुम्भकार

लगा—"धर्म को कैसे छोड़ू? मैंने धर्म को समझा है, फिर मैं दूसरे की शरण कैसे स्वीकार करूं? मुझे इस बात का दुःख है कि मेरे कारण आप सब मुसीबत में फंस रहे हैं। मैं चाहता हूं कि मेरे विचार का परिणाम मै ही भुगतूं। आप लोगों को नहीं भुगतना पड़े। पर धर्म को छोड़ मैं किसी दूसरे की शरण में नहीं जा सकता।"

अर्हन्नक की इस दृढ़ प्रतिज्ञा ने देव को विचलित कर दिया। वह अधीर हो उठा। उसने अर्हन्नक का पोत आकाश में उठा लिया और बोला—"अर्हन्नक! अब भी तुम मेरी बात मान लो, नहीं तो सब मारे जाओगे।" अर्हन्नक मौत के मुंह में जाकर भी विचलित नहीं हुआ। देव ने देखा और उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर देखा कि अर्हन्नक अब भी वैसे ही अभय और धर्मनिष्ठ है। देव का हृदय बदल गया। जलपोत समुद्र के तल पर आकर टिक गया और देव अर्हन्नक के चरणों में लुट गया। सब लोग इस दृश्य को आश्चर्यपूर्ण आंखों से देखते रहे।

धर्मनिष्ठा

दिशा कोई भी हो, सफलता के लिए तन्मयता आवश्यक है। जो धार्मिक धर्म में तन्मय नही होता वह धार्मिक बना नहीं रह सकता। श्रावक धार्मिक होता है। उसके लिए धार्मिक होना जरूरी है। दूसरे व्यक्ति धार्मिक भी हो सकते है और नहीं भी हो सकते किन्तु श्रावक धार्मिक होता ही है।

जब जीवन में धर्म की तन्मयता आती है तब व्यक्ति धर्म के पीछे-पीछे चलने लगता है इसीलिए श्रावक को धर्मानुग कहा गया है।

जो पदार्थ के पीछे चलता है वह धार्मिक नहीं रह सकता। जो व्यक्ति और परम्परा के पीछे चलता है वह धार्मिक नहीं रह सकता। धार्मिक वही रह सकता है जो केवल धर्म के ही पीछे चलता है, सत्य के ही पीछे चलता है। धर्म के पीछे वही चल सकता है जिसे धर्म इष्ट होता है। जिसे अधर्म इष्ट है वह धर्म के पीछे नहीं चल सकता। इसीलिए श्रावक को धर्मिष्ठ कहा जाता है।

जिस व्यक्ति को जो इष्ट होता है वह उसी की चर्चा करता है, उसी की प्रसिद्धि चाहता है और उसी की प्रसिद्धि करता है। जिसे अधर्म इष्ट होता है वह अधर्म की प्रसिद्धि करता है और जिसे धर्म इष्ट होता है वह धर्म की प्रसिद्धि करता है। श्रावक को धर्म इष्ट होता है इसीलिए वह धर्म की ख्याति –आख्यान करता है।

जो व्यक्ति जिस बात की बार-बार चर्चा करता है उसे वही दिखाई देता है। धर्म की चर्चा करने वाले व्यक्ति को अधर्म दिखाई नही देता। उसे स्वप्न में भी धर्म दिखाई देता है। इसीलिए श्रावक को धर्मप्रलोकी –धर्म का प्रलोकन करने वाला कहा है।

था। वह मिट्टी के बर्तनों का व्यापार करता था। उसके यहां हजारों घड़े आदि बनते थे। अर्हन्नक आदि अनेक श्रावक समुद्र पार कर व्यापार के लिए जाते थे। अनेक राजा व्रती श्रावक थे और वे बड़े बडे राज्यों का संचालन करते थे तथा आत्म-रक्षा के लिए युद्ध भी करते थे। वे श्रावक होने के कारण अल्प इच्छा, अल्प परिग्रह और अल्प हिंसा वाले थे। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि वे अनर्थक हिसा और अनावश्यक संग्रह से वचते थे। 'जितना बड़ा परिवार उतनी बडी आवश्यकता'—इस सिद्धान्त के अनुसार वे बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़ा प्रयत्न करते किन्तु अल्प आवश्यकता की पूर्ति के लिए बडा प्रयत्न नहीं करते। आकांक्षा और आवश्यकता के प्रति उनका दृष्टिकोण सम्यग् हो गया था। इस कसौटी पर ध्यान देने से अल्प और महा हिसा आदि का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है तथा अल्प और महा हिंसा की भेद-रेखा समझ में आ जाती है।

धार्मिक जीवन के दो चित्र

श्रीमद् राजचन्द्र धार्मिक व्यक्ति थे। जैन धर्म के सिद्धान्तों पर उनका दृढ़ विश्वास था। धार्मिकता उनके आचार और व्यवहार में उतरी हुई थी। वे जवाहरात का व्यापार करते थे। एक बार उन्होंने एक सौदा किया। भाव तेज हो गया। सामने वाले व्यक्ति के पचास हजार का घाटा हो रहा था। वह बहुत चिन्तित हुआ। श्रीमद् राजचन्द्र के पास आया, तब श्रीमद् ने उससे सौदे का ' रुक्का ' मांगा। वह देने में कतराने लगा। उसने कहा –" आप घबराइए मत। मै येन-केन -प्रकारेण/आपके पैसे चुका दूंगा। " श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा–"पैसे की बात जाने दो। मुझे 'रुक्का' चाहिए। " उसने फिर विश्वास दिलाते हुए कहा–"आप मेरी नीति पर सन्देह मत करिए। मैं एक -एक पैसा चुकाने का प्रयत्न करूंगा।" श्रीमद् ने उसके हाथ से 'रुक्का' छीनकर उसे फाड़ते हुए कहा–"राजचन्द्र दूध पी सकता है किन्तु किसी का खून नहीं पी सकता।" श्रीमद् की बात सुनकर सामने वाला व्यक्ति पानी-पानी हो गया।

धार्मिकता कानून की भाषा को भी छोड़ देती है, जहां क्रूरता की संभावना आ जाती है। कानूनी भाषा के अनुसार श्रीमद् उससे पचास हजार रुपये ले सकते थे किन्तु धर्म की भाषा हृदय की भाषा होती है, कानून की भाषा नहीं होती। कानून पवित्र होता है किन्तु धर्म परम पवित्र होता है। कानून से उसका बहुत ऊंचा स्थान है।

श्री रूपचन्द सेठिया धार्मिक व्यक्ति थे। उनका जीवन सच्चे अर्थ में श्रावक का जीवन था। उनके व्यापार में कोई अप्रामाणिकता नहीं चल सकती थी। अपने मुनीम-गुमाश्तों को उनका स्पष्ट निर्देश था कि कपड़े के माप में कमी न आ जाए। एक दिन वे दुकान में बैठे थे। ग्राहक आया। कपड़ा खरीदा।

धर्म का प्रलोकन करने वाला उसके रंग से रंग जाता है। जो व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है उसी वातावरण का रंग उस पर चढ़ता है। श्रावक अपने आस-पास धर्म के वातावरण को बनाए रखता है इसलिए वह धर्म के रंग से अनुरंजित होता है।

जो व्यक्ति जिस रंग से रंगा हुआ है उसके व्यवहार में उसी का प्रतिबिम्ब होता है। धर्म से रंगे हुए व्यक्ति का आचार और व्यवहार अधार्मिक नहीं होता। गृहस्थ होने के कारण श्रावक भी जीविका का अर्जन करता है। किन्तु वह अधार्मिक उपायों से जीविका का अर्जन नहीं करता। वह क्रूर-कर्म, विश्वासघात आदि का आचरण नहीं करता। इसलिए श्रावक को धर्म से आजीविका करने वाला कहा गया है।

धर्म धार्मिक के मन में, भावना में, रुचि में और अन्ततः आचार-व्यवहार में उतरता है तभी वह सही अर्थ में धार्मिक हो सकता है। भगवान् महावीर ने श्रावक के गुण बतलाते हुए कहा है –" **धम्मिए धम्माणुए धम्मिटठे धम्मक्खाई धम्मप्पलोई धम्मपलज्जणे धम्मसील समुदायारे धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणे** "।

श्रावक की दिनचर्या (१)

श्रावक सामाजिक प्राणी होता है। उसे काम, अर्थ और धर्म की सन्तुलित साधना करनी होती है। वह किसी एक के प्रति सर्वात्मना समर्पित नहीं होता। इसीलिए उसकी दिनचर्या के भी अनेक अंग होते है। धर्म की आराधना उसकी दिनचर्या का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसे व्यवसाय आदि दैनिक प्रवृत्ति मे अनासक्ति-धर्म का प्रयोग करना ही चाहिए। किन्तु कुछ समय क्रियात्मक धर्म या उपासनात्मक धर्म के लिए नियमित रूप से निकालना चाहिए।

प्रातःकाल नींद खुलते ही उसे अपने इष्टदेव का स्मरण या जप करना जरूरी है। इसके लिए सूर्योदय से पहले का समय उपयुक्त है। कोई बहुत जल्दी न उठ सके तो कम-से-कम सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व जागृत हो जाना चाहिए। दैहिक क्रिया से मुक्त होकर उसे जप या ध्यान मे लग जाना चाहिए। जप या ध्यान के लिए तदनुकूल वातावरण आवश्यक है। पुराने जमाने के लोग धर्म की उपासना पौषधशाला या उपाश्रय में किया करते थे। उनमें केवल धार्मिक क्रिया ही सम्पन्न की जाती थी। वहां का वातावरण भी वैसा ही रहता था। अनुकूल वातावरण में अनुकूल मन का निर्माण होता है। प्रतिकूल वातावरण मे मन उचट जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन निमित्तों की उपेक्षा नही की जा सकती। जप या ध्यान करने वाला व्यक्ति द्रव्य है। जप या ध्यान करने की भावना उसका भाव है। द्रव्य और भाव के ठीक [illegible] भी क्षेत्र और काल की अनुकूलता न हो तो वे (द्रव्य और भाव) अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते। आज भी धर्मोपासना के लिए [illegible] दोनों पर ध्यान देना आवश्यक है। उपासना कक्ष [illegible] वहां एकान्त, शान्त और अनुकूल वातावरण [illegible]

मुनीम ने मापकर उसे दे दिया। उन्हें लगा कि कपड़ा ठीक नहीं मापा गया है। उन्होंने वह कपड़ा लिया और अपने हाथ से मापा तो माप में कम निकला। उसे दूसरा कपड़ा पूरा माप कर दे दिया। फिर मुनीम से बोले –"तुमने कपड़ा कम क्यों मापा ?" उसने उत्तर दिया –"हम बनिये है। थोड़ा -बहुत ऐसा न करें तो काम कैसे चले ?" उन्होने कहा–"हमारे यहां ऐसा बनियापन नहीं चल सकता।" मुनीम फिर भी अपनी बात की रट लगाता रहा, तब उन्होंने उसका हिसाब चुकता किया और उसे नौकरी से छुट्टी दे दी।

कहां वे लोग होते है जो अप्रामाणिकता नहीं करने वाले मुनीम को छुट्टी दे देते है और कहां थे वे जिन्होंने अप्रमाणिकता नहीं छोड़ने वाले मुनीम को छुट्टी दे दी। जिसके जीवन में धर्म उतर आता है वह अप्रामाणिकता और अनीति को कभी सहन नहीं कर सकता। जिसके व्यवहार में धर्म का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता तो यह कैसे जाना जा सकता है कि वह धार्मिक है।

श्रावक की दिनचर्या (२)

श्रावक श्रमणोपासक—श्रमण का उपासक होता है। श्रमण की उपासना करना उसका कर्त्तव्य है। दिन में कम-से-कम एक बार अवश्य उपासना करनी चाहिए। इसके लिए प्रातः काल का समय सबसे अच्छा है।

उपासना का अर्थ है —श्रमण की सन्निधि में बैठना। श्रावक श्रमण के पास जाता है, उसे वन्दना-नमस्कार करता है और फिर उसकी उपासना करता है।

आध्यात्मिक ज्ञान के विकास के लिए ज्ञानार्जन भी आवश्यक है। उसका मुख्य हेतु है —स्वाध्याय। प्रतिदिन कुछ-न-कुछ स्वाध्याय करना आवश्यक है। प्रवचन भी उसका मुख्य हेतु है। अत. प्रवचन सुनने का अभ्यास भी श्रावक की दिनचर्या का एक अंग होना चाहिए।

हमारे जीवन में दो प्रकार के आहार का उपयोग होता है। उनमें एक है—रोम आहार और दूसरा है—कवल आहार। कवल आहार दिन में दो-चार बार और रोम आहार प्रतिपल किया जाता है। उसके बिना जीवन चलता भी नहीं। इसी प्रकार 'आचार धर्म' जीवन मे निरन्तर चलता है—हर क्षण चलता है, किन्तु उपासना प्रतिपल नही होती। वह कुछ समय के लिए की जाती है किन्तु अन्यान्य कार्यों के साथ उसका होना बहुत जरूरी है।

मानसिक शान्ति के लिए माला-जप, साधुओं की सन्निधि, स्वाध्याय, प्रवचन-श्रवण—ये श्रावक की दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं। सुविधानुसार इसका विकास किया जा सकता है।

का समय शान्त और अनुकूल होता है। उसमें धार्मिक दिनचर्या का प्रथम आचरण सम्पन्न किया जा सकता है।

जैन धर्म में सामायिक (समत्व) की साधना प्रथम आचरण है। उसका संकल्प कर प्रथम मुहूर्त्त तक जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि करना बहुत उपयोगी है। यदि कोई सामायिक-साधना न कर सके—एक मुहूर्त्त का समय। निकाल सके तो उसे कम-से-कम पन्द्रह -बीस मिनट तक जप ध्यान अवश्य करना चाहिए।

श्रावक की दिनचर्या (२)

श्रावक श्रमणोपासक—श्रमण का उपासक होता है। श्रमण की उपासना करना उसका कर्त्तव्य है। दिन में कम-से-कम एक बार अवश्य उपासना करनी चाहिए। इसके लिए प्रातः काल का समय सबसे अच्छा है।

उपासना का अर्थ है —श्रमण की सन्निधि में बैठना। श्रावक श्रमण के पास जाता है, उसे वन्दना-नमस्कार करता है और फिर उसकी उपासना करता है।

आध्यात्मिक ज्ञान के विकास के लिए ज्ञानार्जन भी आवश्यक है। उसका मुख्य हेतु है —स्वाध्याय। प्रतिदिन कुछ-न-कुछ स्वाध्याय करना आवश्यक है। प्रवचन भी उसका मुख्य हेतु है। अत. प्रवचन सुनने का अभ्यास भी श्रावक की दिनचर्या का एक अंग होना चाहिए।

हमारे जीवन मे दो प्रकार के आहार का उपयोग होता है। उनमें एक है-रोम आहार और दूसरा है—कवल आहार। कवल आहार दिन मे दो-चार बार और रोम आहार प्रतिपल किया जाता है। उसके बिना जीवन चलता ही नही। इसी प्रकार 'आचार धर्म' जीवन मे निरन्तर चलता है—हर क्षण चलता है, किन्तु उपासना प्रतिपल नहीं होती। वह कुछ समय के लिए की जाती है किन्तु अन्यान्य कार्यो के साथ उसका होना बहुत जरूरी है।

मानसिक शान्ति के लिए माला-जप, साधुओं की सन्निधि, ध्यान, स्वाध्याय, प्रवचन-श्रवण—ये श्रावक की दिनचर्या के प्रमुख अग है। [illegible]अनुसार इसका विकास किया जा सकता है।

जहां श्रमणो की सन्निधि न हो, वहा जप, स्वाध्याय आदि उपासना [illegible] किए जा सकते है। वातावरण एकान्त और अनुकूल होने पर ही ये [illegible] शान्ति किए जा सकते है।

का समय शान्त और अनुकूल होता है। उसमें धार्मिक दिनचर्या का प्रथम आचरण सम्पन्न किया जा सकता है।

जैन धर्म में सामायिक (समत्व) की साधना प्रथम आचरण है। उसका संकल्प कर प्रथम मुहूर्त्त तक जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि करना बहुत उपयोगी है। यदि कोई सामायिक-साधना न कर सके—एक मुहूर्त्त का समय। निकाल सके तो उसे कम-से-कम पन्द्रह -बीस मिनट तक जप ध्यान अवश्य करना चाहिए।

श्रावक की साप्तहिक चर्या

समय के अनेक पर्व होते हैं। जैसे—सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदि। इनमे भी चर्या के कुछ विशेष प्रकार होते है। जो लोग प्रतिदिन श्रमणों की उपासना, व्याख्यान-श्रवण आदि न कर सके वे सप्ताह मे एक दिन अवश्य ही श्रमणो की उपासना, व्याख्यान-श्रवण आदि करे। उस दिन सामूहिक परिवार-गोष्ठी भी आयोजित की जाए। उसमे परिवार के सब लोग सम्मिलित होकर सामूहिक रूप मे अर्हत्-वन्दना, सामायिक, स्वाध्याय, ध्यान आदि का अभ्यास करें। उसमें धर्म-चर्चा तथा पारस्परिक सद्व्यवहार की चर्चा भी चले। सब व्यक्ति खुला और मुक्त भाव से अपनी-अपनी समस्या प्रस्तुत करे और दूसरे लोग उस पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करे तथा समस्या को सुलझाने मे सहयोग करें।

श्रावक की दिनचर्या (३)

श्रावक के लिए जरूरी है कि वह प्रतिदिन संयम का अभ्यास करे और संयम की साधना करने वाले संयमीगण का सहयोग करे। साधु अनगार–गृह-त्यागी होते है और अनगार होने के कारण वे भोजन के विषय में उदासीन होते है। वे अपने लिए पकाते नहीं है और पकवाते भी नहीं है। उनका जीवन सहज निष्पन्न और सहज प्राप्त भोजन के आधार पर चलता है। इस स्थिति में श्रावक का कर्तव्य होता है कि वह साधु को अपने भोजन का कुछ हिस्सा दे। वह प्रतिदिन भोजन से पूर्व अपना कुछ हिस्सा देने के लिए चिन्तन करे, भावना करे। हो सकता है कि मुनि घर पर आए, भोजन ले या न ले किन्तु भावना करना श्रावक की दिनचर्या का अनिवार्य अंग होना चाहिए।

डॉ० हर्बर्ट वर्न इंग्लैंड-निवासी जैन श्रावक थे। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर एफ ० डब्ल्यू ० टॉमस के द्वारा उनका परिचय प्राप्त हुआ। शुभकरण दसानी ने उनके साथ पत्र-व्यवहार किया। अनेक प्रश्नोत्तर चले। एक प्रसंग में डॉ० हर्बर्ट वर्न ने अपने को बारह-व्रती श्रावक बतलाया। उनसे पूछा गया कि आप इंग्लैड में रहते हो, वहां जैन साधु नही हैं, फिर बारहवें व्रत का पालन कैसे करते हैं –साधुओं को दान कैसे देते है ? इसके उत्तर में उन्होंने बतलाया कि मै भोजन से पूर्व प्रतिदिन यह भावना करता हूं कि साधु मेरे घर पर आएं और मुझसे कुछ लें। इस प्रकार मै बारहवें व्रत का पालन भावना से करता हूँ। यह विसर्जन की भावना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। श्रावक को इसका नियमित अभ्यास करना चाहिए।

तीर्थंकरो के बारे मे उन्हे कोई जानकारी नहीं हैं। फिर भी वे जैन है। जन्मना नहीं कर्मणा जैन है। जो व्यक्ति कर्मणा जैन होते है वे जैन धर्म को अधिक गहराई से समझ सकते है और उससे लाभान्वित हो सकते है। जो व्यक्ति जन्मना जैन है, उन्हें जैनत्व का सहज गौरव प्राप्त है। इस गौरव को शत-गुणित करने के लिए कर्मणा जैन बनने की अपेक्षा है।

श्रावक : जन्म से या कर्म से ? (१)

श्रावक शब्द का अर्थ-बोध हुए बिना श्रावकत्व की पहचान अधूरी रहती है। श्रावक शब्द का सीधा सा अर्थ है सुनने वाला या सुनाने वाला। इस परिभाषा की दृष्टि से साधु और गृहस्थ दोनों श्रावक कहला सकते है। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में श्रावक शब्द का प्रयोग जैन उपासक के लिए हुआ है। जैन उपासक या श्रावक जन्म से होता है या कर्म से, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न को समाहित करने से पहले मैं एक घटना का उल्लेख करना चाहता हूं।

जोधपुर की बात है। वहां के रोटरी क्लब में प्रवचन का आयोजन था। जोधपुर उच्च-न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश डॉ० वाचू उस सभा के अध्यक्ष थे। प्रवचन के बाद प्रश्नोत्तरो का क्रम चला। एक पत्रकार ने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहा—जैन धर्म एक उच्चस्तरीय और वैज्ञानिक धर्म है, फिर भी इसके अनुयायी इतने कम क्यो ?

प्रश्न एक व्यक्ति ने किया था, पर अनेक व्यक्तियों की भावना उसके साथ थी। यह सच है कि जैनो की सख्या लाखों तक ही सीमित है, जबकि इसकी विचारधारा इतनी वैज्ञानिक और उदार है। मैने उस प्रश्न के उत्तर में कहा—आप जैनों की जितनी संख्या मान रहे हैं उसमें कर्मणा जैन और भी कम है। जैन परिवारों मे जन्म लेने मात्र से वे जैन है, पर संस्कार और कर्म की दृष्टि से यह संख्या और कम पड जाएगी। किन्तु मेरे अभिमत से जैन लोग करोड़ों की संख्या तक पहुंच सकते है। वे लोग जन्मना जैन नहीं है। उन्होंने जैन परिवारों में जन्म नहीं लिया है, जैन साधु-साध्वियों से उनका सम्पर्क नही है, जैन उपासना-पद्धति से वे परिचित नहीं है, जैन तीर्थ और

जो व्यक्ति जन्म से श्रावक है, किन्तु उसका आचरण श्रावकत्व के अनुरूप नहीं है वह श्रावक जीवन की आनन्दानुभूति नहीं कर पाता। इसलिए मै जैन उपासको से यह अपेक्षा रखता हूं कि वे अपने कर्म का निरीक्षण करे, जैनदर्शन के मूलभूत आदर्शो को समझें; समता, समन्वय और समझौता-मूलक मनोवृत्ति का विकास करें, अहिंसा और अपरिग्रह के सम्बन्ध मे श्रावकोचित सीमाओं का अतिक्रमण न करें, अपनी उपासना-पद्धति मे आचरण का मूल्याकन करें और प्रतिक्षण 'श्रावकोऽहम्' 'श्राविकाऽहम्' इस अस्तित्व - बोधक सूत्र को स्मृति में रखें। आत्म-स्मरण का यह क्रम जन्मगत श्रावकत्व और कर्मगत श्रावकत्व को स्वयं स्पष्ट कर देगा।

श्रावक : जन्म से या कर्म से ? (२)

कर्म व्यक्ति के संस्कारों की कसौटी है। किस व्यक्ति के संस्कार कैसे है, यह उसके आचरण से ही गम्य हो सकता है। जैन परिवारो मे पले हुए व्यक्ति यदि हिसा और परिग्रह की स्तुति मे रस लेते है, सह-अस्तित्व को मान्यता नही देते है, एकान्त आग्रह मे विश्वास करते है, दूसरे के स्वत्व का हनन करने के लिए उद्यत रहते है—क्या वे अपने कर्म से जैन हो सकते है।

आस-पास जैनत्व का परिवेश न होने पर भी जो व्यक्ति अहिसा और अपरिग्रह मे विश्वास करते है, जीवन की सरलता के लिए अनाग्रह और सह-अस्तित्व को आवश्यक मानते है, निष्काम सेवा में रस लेते है, दूसरो के अधिकारों का हनन नहीं करते और जीवन की पवित्रता में आस्था रखते है —ये जैनत्व के संस्कार उन्हे जन्म से नही तो कर्म से जैन बना देते है।

जैन श्रावक के लिए यह प्रसग चिन्तनीय है। विरासत मे प्राप्त श्रावकत्व के आधार पर क्या वह स्वयं को श्रावक प्रमाणित कर सकता है ? श्रावक की कितनी भूमिकाए है ? अपने-आपको श्रावक समझने वाला व्यक्ति किस भूमिका पर खडा है ? सैद्धान्तिक दृष्टि से श्रावक तीन श्रेणियो में विभाजित है—सम्यक्‌दृष्टि, व्रती और प्रतिमाधारी। इन तीन श्रेणियो से अनेक श्रेणियो का निर्माण हो सकता है। व्यक्ति की अपनी क्षमता और रुचि के आधार पर यह वर्गीकरण है। इस वर्गीकरण की पृष्ठभूमि भी कर्म से अनुवन्धित है। इन तीन श्रेणियों से पूर्व एक श्रेणी है और जिसका नाम है—'सुलभ वोधि''। सुलभ बोधि श्रावक तत्त्वज्ञानी तो नहीं होते, पर उनकी प्रकृति वहुत भद्र होती है, आचरण अच्छा होता है और वे सहज ही जिन भगवान् के मार्ग का अनुसरण करते है।

जो व्यक्ति जन्म से श्रावक है, किन्तु उसका आचरण श्रावकत्व के अनुरूप नही है वह श्रावक जीवन की आनन्दानुभूति नही कर पाता। इसलिए मै जैन उपासको से यह अपेक्षा रखता हूं कि वे अपने कर्म का निरीक्षण करें, जैनदर्शन के मूलभूत आदर्शो को समझें; समता, समन्वय और समझौता-मूलक मनोवृत्ति का विकास करें, अहिसा और अपरिग्रह के सम्बन्ध में श्रावकोचित सीमाओ का अतिक्रमण न करें, अपनी उपासना-पद्धति में आचरण का मूल्यांकन करें और प्रतिक्षण 'श्रावकोऽहम्' 'श्राविकाऽहम्' इस अस्तित्व - बोधक सूत्र को स्मृति मे रखें। आत्म-स्मरण का यह क्रम जन्मगत श्रावकत्व और कर्मगत श्रावकत्व को स्वयं स्पष्ट कर देगा।

श्रावक की धर्म जागरिका

श्रावस्ती नगरी का उद्यान। भगवान् महावीर अपने शिष्य-परिवार के साथ वहां पधारे। नगरवासियो कों सूचना मिली। श्रावको के मन मे भगवान् के दर्शन पाने की उत्सुकता जगी। शख, पोक्खलि आदि प्रमुख श्रावकों के साथ हजारों व्यक्ति उद्यान मे पहुंचे। भगवान् के दर्शन पाकर वे आनन्दविभोर हो उठे। भगवान् ने प्रवचन किया। जनता को अध्यात्म की प्रेरणा मिली। प्रश्नोत्तरों के माध्यम से जिज्ञासु व्यक्तियो ने समाधान पाया। प्रवचन सम्पन्न होने के बाद सब लोग शहर में जाने के लिए उद्यत हुए।

शख श्रावक ने सब श्रावकों को सम्बोधित कर कहा–"साधार्मिक बन्धुओ! आज हम सब सहभोज करे। एक साथ मिलकर खाए, पीए, प्रसन्न वातावरण में रहें और पौषध एवं पाक्षिक प्रतिक्रमण कर आत्मोपासना करें।" शंख श्रावक का सुझाव सबको पसन्द आया। सब श्रावकों ने अपनी सहमति व्यक्त की और चल पड़े नगर की ओर। शहर में पहुचकर उन्होंने भोजन की व्यवस्था की। सब लोग एकत्रित हुए पर शंख श्रावक नहीं पहुंचे। कुछ समय वे उनकी प्रतीक्षा करते रहे। फिर पोक्खलि श्रावक बोला–"बन्धुओ! आप लोग यही रहे, मै अभी शख श्रावक को अपने साथ लेकर आता हूं।"

शंख श्रावक उद्यान से शहर की ओर चले। सहसा उनके मन मे आया "आज पक्ष का अन्तिम दिन है। इस दिन श्रावक को विशेष रूप से आत्मोपासना में संलग्न रहना चाहिए। मै यहा से सीधा घर जाऊं और पौषधशाला में प्रतिपूर्ण पौषध की आराधना करूं।"

शख श्रावक घर पहुंचे और अपनी पत्नी उत्पला को सम्बोधित कर बोले –"उत्पले ! आज मै प्रतिपूर्ण पौषध करना चाहता हूं।" उत्पला ने कोमल

शब्दों में कहा–"आपकी जैसी इच्छा हो, करें।" पत्नी की अनुज्ञा लेकर शंख श्रावक पोषधशाला में गए। पौषधव्रत लिया और स्वाध्याय, जप, कायोत्सर्ग आदि के माध्यम से आत्मलीन बन गए।

उधर पोक्खलि श्रावक शंख श्रावक को बुलाने के लिए उनके घर पहुचे। उत्पला को पता चला। वह उनके सामने गयी और सत्कार सम्मानपूर्वक बिठाकर बोली –"आज तो बडी कृपा की। कहिए, हम आपकी क्या सेवा कर सकते है ? "पोक्खलि श्रावक ने शंख श्रावक के बारे मे पूछा। उत्पला से उनके पौषध की जानकारी पाकर वे पौषधशाला मे गए। शख श्रावक को उलाहना देते हुए कहा–"वहा सब आपकी प्रतीक्षा कर रहे है, चलिए। सहभोज और धर्म-जागरणा की बात भूल कैसे गए ?" शंख श्रावक ने सहज भाव से कहा –"मै पौषध मे हू, आप कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र है।' पोक्खलि श्रावक ने वहा पहुचकर सब श्रावको को स्थिति की अवगति दी। उन्होंने सहभोज के बाद धर्म-जागरणा में समय बिताया।

प्रात काल का सुन्दर समय। रात भर धर्म-जागरणा के बाद शंख श्रावक, पौषध पूर्ण कर रहे थे। सहसा उन्हे श्रावस्ती नगरी के बाहर उद्यान मे भगवान् महावीर का स्मरण आया। पौषध पूरा करने से पहले उन्होंने भगवान् के दर्शन करने का निर्णय लिया। घर से चले और उद्यान मे पहुच गए। उधर पोक्खलि आदि श्रावक भी भगवान् को वंदन करने पहुचे। भगवान ने देशना दी। श्रावक कृतकृत्य हो गए।

भगवान् के पास शख श्रावक को देखकर अन्य श्रावक उनसे [illegible] हुए। अपना रोष प्रकट करते हुए बोले – "वाह शंखजी! [illegible] की। आपको पौषध करना था तो पहले ही कह देते। [illegible] धर्म करना क्या उचित है ? क्या हमें अपमानित करने के लिए [illegible] किया गया है ?"

चिंतन करना उचित नहीं है।"

इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्यों में एक हैं। उन्होंने एक प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा–"भगवन् ! यह सुद्रष्टा की जागरिका क्या होती है ? "भगवान् ने इस जिज्ञासा के समाधान में बताया –"गौतम! तीन प्रकार की जागरिका होती है –

बुद्धजागरिया

अबुद्धजागरिया

सुदक्खुजागरिया

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग मुनियों की जागरिका का नाम बुद्धजागरिका है। वीतरागत्व की साधना में संलग्न, संयत, छद्मस्थ मुनियों की जागरिका अबुद्धजागरिका होती है तथा नव तत्त्व को जानने वाले अर्हत प्रवचन पर श्रद्धा करने वाले श्रावकों की जागरिका सुद्रष्टा की जागरिका है।

शंख श्रावक तीसरी जागरिका से जागृत हैं। जागरिका का अर्थ है स्वयं के प्रति जागरूक रहना। जो व्यक्ति आत्माभिमुख बन जाता है वह नींद लेता हुआ भी जागृत है। आत्म-विमुख जागता हुआ भी सुप्त है। जो व्यक्ति चेतना के जागरण या ऊर्ध्वारोहण के लिए प्रवृत्ति करता है और इसी उद्देश्य से प्रवृत्ति का निरोध करता है वह इन जागरिका का अधिकारी होता है।

भगवान् की बात सुनकर श्रावक मौन हो गए। उन्हें अपनी भूल अनुभव होने लगी। शंख श्रावक के प्रति अपने अविनय-भरे व्यवहार से उनका मन अनुताप से भर गया। सारी सभा में निस्तब्धता छा गयी। भगवान् महावीर की सुखद सन्निधि। साधुओं और श्रावकों की विशाल परिषद्। भगवान् के प्रवचन से हर व्यक्ति को जीवन की नयी दिशा मिली। शंख श्रावक ने अपनी जिज्ञासा रखते हुए पूछा–"भगवान् ! क्रोध का क्या परिणाम आता है ? " भगवान ने उत्तर दिया–"क्रोधवश प्राणी सात आठ कर्मो का बंधन करता है। अल्प-स्थितिक कर्मो को लम्बी स्थिति में परिणत करता है और मन्द विपाकी कर्मो को तीव्र विपाकी बना लेता है। अभिमान, माया और लोभ की परिणतियां भी इसी प्रकार की है। "

श्रावकों ने यह विवेचन सुना और उनके पापभीरू हृदय कांप उठे। शख

श्रावक के प्रति उनके मन में जो आक्रोश का भाव पैदा हुआ था, वह धुल गया। वे उसी क्षण अपने स्थान से उठे। शंख श्रावक के पास पहुंचकर निःशल्य भाव से क्षमायाचना की। अपने अवगुणों की निंदा की। शंख श्रावक की विशेषताओं का उल्लेख किया और भगवान् महावीर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। सारा वातावरण खिल उठा। अतीत विस्मृत हो गया। वर्तमान के क्षण धर्म-जागरण के क्षण थे। भगवान् के सान्निध्य ने सन्देहो का जाल काटकर विश्वास का उन्मुक्त गगन दिया। उन्मुक्त आत्मलीनता ही जागरिका है।

भाव और आत्मा (१)

भाव और आत्मा जैन-दर्शन के महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। जब तक इन तत्त्वो का सम्यक् बोध नही होता, जैन-दर्शन के सूक्ष्म रहस्यों की अवगति नही हो सकती। ये तत्त्व जितने जटिल है उतने ही सरल है। संसार में जितने आस्तिक दर्शन हैं वे आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते है। आत्मा के लिए जीवात्मा और परमात्मा शब्दों का प्रयोग भी होता है किन्तु इन्हे समझने में उलझन खडी हो जाती है। इस उलझन का कारण है भाव को नहीं समझना। भाव का अर्थ है होना। पारिभाषिक रूप से अवस्था विशेष का नाम भाव है। उमास्वाति जैन-दर्शन के मर्मज्ञ आचार्य हुए हैं। उन्होंने भाव को स्वतत्त्व—जीव का स्वरूप माना है। भाव की जानकारी के अभाव मे जीव का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता।

आत्मा के दो भेद है—द्रव्य आत्मा और भाव आत्मा। द्रव्य आत्मा शुद्ध आत्म द्रव्य है। आत्मा के मुख्य आठ भेदों में द्रव्य आत्मा मूल तत्त्व है। शेष सात आत्मा द्रव्य आत्मा की अवस्थाएं है। अतः भाव आत्मा है। द्रव्य आत्मा के जितने भेद-प्रभेद है, वे सब भाव आत्मा में समाहित है। इन सबको समझने के लिए भाव को समझना बहुत आवश्यक है। भाव का बोध तब होता है जब आत्मा के साथ कर्म-बन्ध की प्रक्रिया का ज्ञान हो। आत्मा और कर्मो के सम्बन्ध से निष्पन्न जीव की अवस्था विशेष को भाव कहते है। भाव कितने है और उनका क्या स्वरूप है, यह चर्चा अग्रिम पाठों से ज्ञात हो सकती है।

भाव और आत्मा (२)

जैन-दर्शन मे भाव के छह प्रकार माने गए है। सामान्यत पाच भावों का उल्लेख आता है, पर सैद्धातिक दृष्टि से एक संख्या और बढ जाती है। छह भाव निम्नलिखित है—

१ औदयिक भाव

२ औपशमिक भाव

३ क्षायिक भाव

४. क्षायोपशमिक भाव

५. पारिणामिक भाव

६ सान्निपातिक भाव

पांच भाव अपने आप मे स्वतन्त्र है। छठा भाव सयोग-निष्पन्न है। दो या दो से अधिक भावो के सयोग से सान्निपातिक भाव बनता है, जैसे—उदय और उपशम से निष्पन्न अवस्था। उदय और क्षय से निष्पन्न अवस्था। उदय और क्षयोपशम से निष्पन्न अवस्था। उदय और परिणमन से निष्पन्न अवस्था। इसी प्रकार उदय-क्षयोपशम-परिणमन, उदय-क्षय-परिणमन आदि विकल्पो से सान्निपातिक भाव निष्पन्न होता है।

उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि का सम्बन्ध कर्मों से है। कर्मों का उदय आदि भाव नही है। किन्तु इनके कारण जीव की जो अवस्था होती है, वह भाव है। प्रत्येक जीव, वह संसारी हो या मुक्त, [illegible] नहीं हो सकता। भावों का जीव पर क्या प्रभाव होता है?

औदयिक भाव (१)

कर्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न अभिमत है। कुछ विद्वान कर्म का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और कुछ इसमें विरोध उपस्थित करते हैं। कुछ विद्वान मात्र क्रिया को कर्म मानते हैं और कुछ लोगों की दृष्टि में संस्कार का नाम कर्म है। जैन-दर्शन इससे भिन्न अभिमत रखता है। इसके अनुसार कर्म पौद्गलिक पदार्थ है। इस लोकाकाश के समग्र प्रदेश पुद्गल और जीव द्रव्यों से परिव्याप्त हैं। आत्मा की अपनी प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट सुख-दुःख, आवरण आदि के हेतुभूत आत्म-प्रदेशावगाही पुद्गल स्कंध का आत्म-प्रदेशों के सम्मिश्रण से एक नया रूप बनता है, उसे कर्म कहते है।

कर्म की अनेक अवस्थाएं हैं। इनमें बन्धावस्था, परिपाकावस्था, उदयावस्था आदि मुख्य है। बन्ध अवस्था में कर्मो में फलदान की क्षमता नहीं होती। बन्ध का परिपाक सहज और निमित्तज दोनों प्रकार से हो सकता है। सहज परिपाक में जितना समय लगता है, निमित्तों के योग से उसमें कमी हो सकती है। जिस प्रकार शरीर में विद्यमान बीमारी के कीटाणु बाह्य निमित्त पाकर अपना प्रभाव शीघ्रता से और तीव्रता से दिखलाते है, इसी प्रकार आत्मा से संसृष्ट कर्म पुद्गलों का प्रभाव होता है। बाह्य निमित्त के अभाव में स्थिति पूरी होने के बाद ही बन्धावस्था उदयावस्था में परिणत होती है।

औदयिक भाव (२)

कर्मो की दस अवस्थाएं हैं–बन्ध, उद्वर्तना, अपवर्तना, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना। इनमे फलदान की शक्ति मात्र उदय मे है। कर्मो का उदय होने पर आत्मा की जो अवस्थाए होती है; वह औदयिक भाव है। कर्म स्वरूप की दृष्टि से एक ही है किन्तु फल-भेद के आधार पर उसके आठ भेद होते है–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान का अवरोधक है। इसके उदय से नया ज्ञान प्राप्त नहीं होता, प्राप्त ज्ञान का विकास नही होता और वह आवरित भी हो जाता है। ज्ञानाभाव रूप जो आत्मा की अवस्था है वह औदयिक भाव है। दर्शनावरणीय कर्म दर्शन (सामान्य ज्ञान) का अवरोधक है। शारीरिक और मानसिक सुख-दु.ख मे हेतुभूत कर्म पुद्‌गल वेदनीय कर्म है। दृष्टि और चरित्र की विकृति का हेतु मोहनीय कर्म है। आत्म-शक्ति मे बाधा डालने वाला कर्म अन्तराय कर्म है। आयुष्य कर्म भवस्थिति अर्थात् जीवित रहने का निमित्त है। चारों गतियों में भाति-भांति की अवस्थाओं मे निमित्त कर्म पुद्गल का नाम नाम कर्म है। जिसके द्वारा प्राणी ऊंचा या नीचा कहलाता है, वह गोत्र कर्म है।

औदयिक भाव (१)

कर्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न अभिमत है। कुछ विद्वान कर्म का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और कुछ इसमें विरोध उपस्थित करते है। कुछ विद्वान मात्र क्रिया को कर्म मानते है और कुछ लोगों की दृष्टि में संस्कार का नाम कर्म है। जैन-दर्शन इससे भिन्न अभिमत रखता है। इसके अनुसार कर्म पौद्गलिक पदार्थ है। इस लोकाकाश के समग्र प्रदेश पुद्गल और जीव द्रव्यों से परिव्याप्त है। आत्मा की अपनी प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट सुख-दु.ख, आवरण आदि के हेतुभूत आत्म-प्रदेशावगाही पुद्गल स्कंध का आत्म-प्रदेशों के सम्मिश्रण से एक नया रूप बनता है, उसे कर्म कहते है।

कर्म की अनेक अवस्थाएं है। इनमें बन्धावस्था, परिपाकावस्था, उदयावस्था आदि मुख्य है। बन्ध अवस्था में कर्मो में फलदान की क्षमता नहीं होती। बन्ध का परिपाक सहज और निमित्तज दोनों प्रकार से हो सकता है। सहज परिपाक में जितना समय लगता है, निमित्तों के योग से उसमे कमी हो सकती है। जिस प्रकार शरीर में विद्यमान बीमारी के कीटाणु बाह्य निमित्त पाकर अपना प्रभाव शीघ्रता से और तीव्रता से दिखलाते है, इसी प्रकार आत्मा से संसृष्ट कर्म पुद्गलों का प्रभाव होता है। बाह्य निमित्त के अभाव में स्थिति पूरी होने के बाद ही बन्धावस्था उदयावस्था में परिणत होती है।

औदयिक भाव (२)

कर्मों की दस अवस्थाएं हैं–बन्ध, उद्वर्तना, अपवर्तना, सत्ता, उदय, उदीरणा, सक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना। इनमें फलदान की शक्ति मात्र उदय में है। कर्मों का उदय होने पर आत्मा की जो अवस्थाए होती है, वह औदयिक भाव है। कर्म स्वरूप की दृष्टि से एक ही है किन्तु फल-भेद के आधार पर उसके आठ भेद होते हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान का अवरोधक है। इसके उदय से नया ज्ञान प्राप्त नही होता, प्राप्त ज्ञान का विकास नहीं होता और वह आवरित भी हो जाता है। ज्ञानाभाव रूप जो आत्मा की अवस्था है वह औदयिक भाव है। दर्शनावरणीय कर्म दर्शन (सामान्य ज्ञान) का अवरोधक है। शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख में हेतुभूत कर्म पुद्गल वेदनीय कर्म है। दृष्टि और चरित्र की विकृति का हेतु मोहनीय कर्म है। आत्म-शक्ति में बाधा पहुंचाने वाला कर्म अन्तराय कर्म है। आयुष्य कर्म भवस्थिति अर्थात् जीवित रखने का निमित्त है। चारों गतियों मे भांति-भांति की अवस्थाओं में हेतुभूत कर्म पुद्गल का नाम नाम कर्म है। जिसके द्वारा प्राणी ऊंचा या नीचा कहलाता है वह गोत्र कर्म है।

औदयिक भाव (१)

कर्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न अभिमत है। कुछ विद्वान कर्म का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और कुछ इसमें विरोध उपस्थित करते है। कुछ विद्वान मात्र क्रिया को कर्म मानते है और कुछ लोगों की दृष्टि में संस्कार का नाम कर्म है। जैन-दर्शन इससे भिन्न अभिमत रखता है। इसके अनुसार कर्म पौद्गलिक पदार्थ है। इस लोकाकाश के समग्र प्रदेश पुद्गल और जीव द्रव्यों से परिव्याप्त हैं। आत्मा की अपनी प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट सुख-दुःख, आवरण आदि के हेतुभूत आत्म-प्रदेशावगाही पुद्गल स्कंध का आत्म-प्रदेशों के सम्मिश्रण से एक नया रूप बनता है, उसे कर्म कहते है।

कर्म की अनेक अवस्थाएं है। इनमें बन्धावस्था, परिपाकावस्था, उदयावस्था आदि मुख्य है। बन्ध अवस्था में कर्मो में फलदान की क्षमता नही होती। बन्ध का परिपाक सहज और निमित्तज दोनों प्रकार से हो सकता है। सहज परिपाक में जितना समय लगता है, निमित्तों के योग से उसमें कमी हो सकती है। जिस प्रकार शरीर में विद्यमान बीमारी के कीटाणु बाह्य निमित्त पाकर अपना प्रभाव शीघ्रता से और तीव्रता से दिखलाते हैं, इसी प्रकार आत्मा से संसृष्ट कर्म पुद्गलों का प्रभाव होता है। बाह्य निमित्त के अभाव में स्थिति पूरी होने के बाद ही बन्धावस्था उदयावस्था में परिणत होती है।

औदयिक भाव (२)

कर्मो की दस अवस्थाएं है—बन्ध, उद्वर्तना, अपवर्तना, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना। इनमें फलदान की शक्ति मात्र उदय मे है। कर्मो का उदय होने पर आत्मा की जो अवस्था होती है, वह औदयिक भाव है। कर्म स्वरूप की दृष्टि से एक ही है किन्तु फल-भेद के आधार पर उसके आठ भेद होते है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान का अवरोधक है। इसके उदय से नया ज्ञान प्राप्त नहीं होता, प्राप्त ज्ञान का विकास नही होता और वह आवरित भी हो जाता है। ज्ञानाभाव रूप जो आत्मा की अवस्था है वह औदयिक भाव है। दर्शनावरणीय कर्म दर्शन (सामान्य ज्ञान) का अवरोधक है। शारीरिक और मानसिक सुख-दु:ख मे हेतुभूत कर्म पुद्गल वेदनीय कर्म है। दृष्टि और चरित्र की विकृति का हेतु मोहनीय कर्म है। आत्म-शक्ति मे बाधा उपस्थित करने वाला कर्म अन्तराय कर्म है। आयुष्य कर्म भवस्थिति अर्थात् जीवित रहने का निमित्त है। चारो गतियो मे भांति-भांति की अवस्थाओं मे उत्पन्न होने का कारण नाम कर्म है। जिसके द्वारा प्राणी उच्च या नीच कहलाता है, वह गोत्र कर्म है।

औदयिक भाव (३)

कर्म पुद्गल अजीव है और आत्मा जीव है। जीव और पुद्गलों के दूध-पानी की तरह एकीभाव का नाम बंध है। जड पुद्गलों का प्रभाव चेतन आत्म द्रव्य पर कैसे हो सकता है, यह जिज्ञासा स्वाभाविक है, पर इसका समाधान भी स्पष्ट है। पथ्य और अपथ्य आहार का शरीर और मन दोनों पर प्रभाव पडता है। मदिरापान से चेतना मूर्च्छित होती है। इसी प्रकार जड़ पुद्गल आत्म-प्रदशों के साथ संश्लिष्ट होकर अपनी शक्ति से आत्मा को प्रभावित कर लेते है।

आत्मा से संपृक्त होने वाले कर्म पुद्गलों की स्थिति सम्पर्क-काल में निर्धारित हो जाती है। निश्चित स्थिति पूरी होने पर कर्म उदय में आते है। उदय दो प्रकार का होता है—प्रदेशोदय और विपाकोदय। प्रदेशोदय से भोगे जाने वाले कर्मो का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। विपाकोदय भी दो प्रकार से होता है। मन्द विपाकोदय लगभग प्रदेशोदय के समान हो जाता है। तीव्र विपाकी कर्मो का उदय काफी स्पष्ट होता है। पूर्वोक्त आठ कर्मो में चार कर्म आत्म-गुणों के प्रतिघाती हैं अत. उनका उदय आत्म-विकास में बहुत बडी बाधा है। शेष चार कर्म शुभ और अशुभ दोनों होते है। किन्तु स्वरूपोपलब्धि में बाधक होने के कारण वह उपादेय नही हो सकता। औदयिक भाव कर्मो के उदय का नाम नही है, उदयजन्य आत्मा की अवस्था औदयिक भाव है, यह विशेष रूप से समझने की बात है।

औपशमिक भाव

दूसरे भाव का नाम है औपशमिक भाव। उपशम का अर्थ है एक स्थिति विशेष में मोहनीय कर्म के पुद्गल-स्कन्धों का सर्वथा उपशमन। उदय आठों कर्मों का होता है। उपशम केवल मोह कर्म का होता है। अन्य कर्म पुद्गलों का सर्वथा उपशमन नहीं होता। यहा प्रश्न हो सकता है कि उपशम केवल मोह कर्म का ही क्यो होता है? उपशम का अर्थ है दब जाना। चार अघाति कर्म शुभ या अशुभ उपलब्धि के निमित्त बनते हैं। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म ज्ञान और दर्शन के आवरक हैं। अन्तराय कर्म आत्म-शक्ति का प्रतिघात करता है। आवारक और प्रतिघातक तत्त्वों को हटाया जा सकता है, दबाया नहीं जा सकता। मोह कर्म-विकारक है। वह आत्मा को विकृत बनाता है। आत्म-प्रदेशों के साथ एकीभूत विकृति को कुछ समय के लिए दबाया जा सकता है।

क्षायिक भाव

कर्म-क्षय से आत्मा की जो अवस्था होती है, वह क्षायिक भाव है। कर्मक्षय से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध करती है। जब तक आत्मा क्षीणकर्मा नहीं होती, उसे संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। उपशम और क्षयोपशम में कर्मो की सत्ता और उसके प्रदेशोदय का अस्तित्व रहता है। क्षायिक भाव में उनका समूल विनाश हो जाता है। कर्म-क्षय के क्रम मे सबसे पहले मोह कर्म का क्षय होता है। इसके बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म क्षीण होते हैं। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य—ये चार अघाति कर्म एक साथ विनष्ट होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थान में मोह कर्म का उपशम होता है। बारहवें गुणस्थान में वह सर्वथा क्षीण हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में शेष तीन घाति कर्म नष्ट होते हैं और सिद्ध अवस्था के प्रथम समय में शेष कर्म नाम-शेष हो जाते है। आठों कर्मो का क्षय होने के बाद आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्मा, ईश्वर आदि शब्दों से अभिहित होती है। ज्ञानावरणीय आदि के क्षय से क्रमशः केवलज्ञान, केवलदर्शन, आत्मिक सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अटल अवगाहना, अमूर्तित्व, अगुरुलघुत्व और क्षायिक लब्धि प्राप्त होती है। क्षीणकर्मा आत्मा आत्यन्तिक, एकान्तिक और बाधा-रहित आनन्द में तल्लीन हो जाती है। इसके बाद उसके लिए कुछ भी करणीय या प्राप्तव्य शेष नहीं रहता।

क्षायोपशमिक भाव

क्षयोपशम का सम्बन्ध चार घाति कर्मों से है। आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय–ये चार कर्म घाति कहलाते हैं। जिस क्षण उदय प्राप्त घाति कर्म उदय में आने के वाद क्षीण हो जाते हैं और उदय में आने वालों को कुछ समय के लिए उपशान्त कर दिया जाता है, वह क्षयोपशम है। क्षयोपशमजन्य आत्मा की अवस्था को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। उपशम और क्षयोपशम दोनों मे उदय मे आनेवाले कर्मों का उपशमन होता है, फिर भी क्षयोपशम मे उदय की प्रक्रिया चालू रहती है। विपाक रूप मे उदय दोनों स्थितियों में नहीं होता किन्तु क्षयोपशम में प्रदेशोदय का निरोध नहीं होता इसलिए उपशम की स्थिति क्षयोपशम से विशिष्ट मानी गयी है।

पारिणामिक भाव

पदार्थ का स्वभाव परिणमनशील है। वह क्षण-क्षण नयी-नयी पर्यायों में परिवर्तित होता रहता है। हर पूर्ववर्ती क्षण से उत्तरवर्ती क्षण नया रूप लिये आता है। इस परिणमनशीलता का सम्बन्ध पारिणामिक भाव से है।

परिणमन के दो प्रकार है—सूक्ष्म और स्थूल।

समय-समय में जो सूक्ष्म परिवर्तन होता है, उसे हमारी स्थूल इन्द्रियां पकड़ नहीं सकती। लेकिन जो स्थूल परिवर्तन होता है, वह हमारी इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात हो जाता है। परिवर्तन के इस क्रम को समझाने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

संध्या का सुहावना समय था। राजा और मंत्री दोनो भ्रमण के लिए निकले। चलते-चलते बीच में एक गन्दा नाला आ गया। उससे भयंकर दुर्गन्ध आ रही थी। राजा ने मुंह मचकोड़ा, नाक रूमाल से ढक लिया और मन्त्री से कहा—"जल्दी चलो यहां से, बड़ी दुर्गन्ध आ रही है।"

मन्त्री ने कहा—"राजन्! इतनी जल्दी क्यों? धीरे-धीरे चलें। घबराहट की क्या बात है? परिणमनशीलता पदार्थो का स्वभाव है। आज जो पानी आपको अप्रिय, अपेय एवं अमनोज्ञ लगता है, वही कल प्रिय, प्रेय और सुस्वादु लग सकता है।"

राजा ने कहा—"मन्त्री असम्भव है। प्याज को हजार बार धोने पर भी उसकी दुर्गन्ध नहीं मिट सकती। उसी प्रकार यह शव-सा सड़ता हुआ पानी कभी भी सुवासित नहीं हो सकता।

इस प्रकार चर्चा-परिचर्चा करते हुए वे वापस लौट आये।

सचिव ने उस पानी को रासायनिक प्रक्रिया से स्वच्छ वना लिया और विविध प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं का उसमें मिश्रण कर किसी उत्सव-

[illegible] के बहाने से राजा को अपने घर भोजन के लिए बुलाया। वह शीतल और सुवासित पानी पीने के लिए दिया। राजा वह पानी पीकर तृप्त हो गया और बोला—मन्त्रीवर! इतना सुमधुर पानी तुम कहां से लाते हो? हमको तो कभी नहीं पिलाया।"

मन्त्री मुस्कराता हुआ बोला—"राजन्! यह जल उस गन्दे नाले से लाया हुआ है।"

यह बात सुनकर राजा विस्मय में खो गया। अब उसे विश्वास हो गया कि परिणमनशीलता के कारण पदार्थ में कितना बड़ा परिवर्तन सम्भाव्य है। अपने-अपने स्वभाव में परिणत होने वाली अवस्था अथवा परिणमन को ही पारिणामिक भाव कहा जाता है। यह दो प्रकार का है—

१. सादि-पारिणामिक—घट, पट आदि।

२. अनादि-पारिणामिक—जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि।

जीवाश्रित-पारिणामिक के दस भेद हैं—

१.	गति	६.	उपयोग
२.	इन्द्रिय	७.	ज्ञान
३.	कषाय	८.	दर्शन
४.	लेश्या	९.	चारित्र
५.	योग	१०.	वेद

परिणमन अजीव का भी होता है। इसलिए पारिणामिक भाव अजीव भी है। अजीवाश्रित पारिणामिक के दस भेद हैं—

सान्निपातिक भाव

पोजिटिव एवं नेगेटिव तार के सम्बन्ध से विद्युत् का उद्‌भव होता है, ऑक्सीजन एवं हाइड्रोजन के संयोग से जल तत्त्व की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक एवं पारिणामिक भावों के मिश्रण से सान्निपातिक-भाव की निष्पत्ति होती है। जैसे–

औदयिक औपशमिक भाव
औदयिक क्षायिक भाव
औदयिक क्षायोपशमिक भाव
औदयिक पारिणामिक भाव
औपशमिक क्षायिक भाव
औपशमिक क्षायोपशमिक भाव
औपशमिक पारिणामिक भाव
क्षायिक क्षायोपशमिक भाव
क्षायिक पारिणामिक भाव
क्षायिक परिणामिक भाव
क्षायोपशमिक पारिणामिक भाव

औदयिक मनुष्यगति और उपशान्त कषाय, यह उदय-उपशम निष्पन्न सान्निपातिक भाव है। औदयिक मनुष्यगति और क्षायिक-सम्यक्त्व, यह उदय-क्षय निष्पन्न सान्निपातिक-भाव है।

औदयिक मनुष्य और क्षायोपशमिक इन्द्रियां यह उदय-क्षयोपशम निष्पन्न सान्निपातिक भाव है। औदयिक मनुष्यगति और पारिणामी जीव यह है उदय-परिणामी निष्पन्न सान्निपातिक भाव है।

इसी प्रकार उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणमन के संयोग से अनेक विकल्प बनते हैं।

एक व्यक्ति में भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक साथ पांचों भाव मिल सकते है।

उदाहरणार्थ—औदयिक भाव मनुष्यत्व है, उपशान्त कषाय औपशमि-भाव है, क्षायिक-सम्यक्त्व क्षायिक भाव है, इन्द्रियां क्षायोपशमिक भाव हैं और जीवत्व पारिणामिक भाव है।

यह है उदय, उपशम, क्षय क्षयोपशम और परिणमन-निष्पन्न सान्निपातिक भाव।

पर्व का महत्त्व

भारतीय संस्कृति को निखार देने में पर्वो का बहुत बड़ा योगदान रहा है। भारतीय जनता पर्वो के प्रति सदा से आस्थाशील रही है। इसलिए इनके माध्यम से अनायास ही जन-जीवन को जागृत किया जा सकता है। यद्यपि स्थायी जागरण के लिए सतत पर्वाराधना अपेक्षित है, क्योकि क्षणिक जागृति से उतना हित नहीं सध सकता जो सतत लीनता से सधता है। फिर भी कुछ न हो, उस अपेक्षा से तो जो कुछ होता है, वही उपादेय है।

पर्वो को तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है—लौकिक पर्व, राष्ट्रीय पर्व और आध्यात्मिक पर्व। लौकिक पर्व दीपावली, दशहरा आदि हैं। राष्ट्रीय पर्व गणतंत्र दिवस, स्वतन्त्रता दिवस आदि हैं। आध्यात्मिक पर्वो में अपने-अपने धार्मिक विश्वासों के आधार पर अनेक पर्व हो जाते है।

जैन समाज के धार्मिक पर्वो में सर्वोपरि महत्त्व पर्युषण पर्व का है। पर्युषण पर्व पर्वाधिराज के रूप में सम्मत है। यह पर्व जागरण, प्रतिगति और प्रगति का प्रतीक है। इस अवसर से प्रेरणा पाकर व्यक्ति अपने अन्तश्चक्षुओं का उद्घाटन करे, अन्तर्विवेक का जागरण करे और हर व्यवहार में जागरण की मुद्रा को आगे रखे।

प्रतिगति और प्रगति का सम्बन्ध गति से है। चलते-चलते जहा यह अनुभव हो कि मैं गलत मार्ग पर चल रहा हूं, वहीं से वापस मुड जाना प्रगति है। गलत मार्ग से हटकर सही मार्ग पर आगे बढ़ना प्रगति है।

पर्युषण पर्व हर व्यक्ति को प्रेरणा देता है कि वह अपने अतीत का अवलोकन करे, वर्तमान को विशुद्ध रखे और भावों के प्रति सतत

जागरूकता का सकल्प करे। धार्मिक पर्व के सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसमे किसी प्रकार की रूढता न आए। रूढ़ पर्व जागृति देने मे सक्षम नही हो सकते। जैन समाज अपने अग्रिम वर्ष मे धार्मिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों से विशेष रूप से लाभान्वित हो, इस वात को ध्यान मे रखकर पर्युषण पर्व का समायोजन किया जाए।

मैत्री का पर्व

धार्मिक जीवन व्यक्ति का आन्तरिक जीवन है। धर्म से उसका अन्तःकरण निर्मल होता है। धर्म की यही विशेषता है। अन्तःकरण की निर्मलता का मुख्य हेतु है—मैत्री। जिसके अन्तःकरण में मैत्री का प्रवाह नहीं होता, उसका अन्त.करण निर्मल नहीं होता। मैत्री के सिद्धान्त का भगवान् महावीर ने व्यावहारिक रूप दिया तथा पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक पर्वो की व्यवस्था की। मैत्री प्रतिदिन आचरणीय है। किसी के प्रति मन में कलुष भाव आए और अनुचित व्यवहार हो जाए तो उसी समय उसका शोधन कर लिया जाए किन्तु व्यक्ति में आवेश होता है। तत्काल वह अपने मानसिक उफान को शान्त न कर सके तो प्रतिक्रमण के समय क्षमायाचना कर उसका शोधन कर लिया जाए।

यदि आवेशवश उस दिन अपने हृदय को सरल न बना संके, सामने वाले व्यक्ति को क्षमा न कर सके तो पाक्षिक प्रतिक्रमण के दिन अवश्य ही क्षमा दे और ले। यह 'खमत-खामणा' का व्यवहार पाक्षिक चर्या का मुख्य अंग है।

किसी कारणवश यह 'खमत-खामणा' का कार्य पाक्षिक पर्व पर नहीं हो सके तो चातुर्मासिक पर्व पर अवश्य किया जाए और चातुर्मासिक पर्व भी टल जाए तो सांवत्सरिक पर्व अन्तिम सीमा है। इसका अतिक्रमण नही किया जा सकता और नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार मैत्री के तीन मुख्य मोड है—पक्ष का अन्तिम दिन, चातुर्मास का अन्तिम दिन और वर्ष का अन्तिम दिन। यह कार्य उपवास, पौषध और प्रतिक्रमणपूर्वक सम्पन्न करने का होता है। संवत्सरी के दिन तो अवश्य ही उपवास आदि करणीय हैं। इस चर्या का अनुपालन आन्तरिक और व्यावहारिक—दोनों जीवन-धाराओं को गति और बल देने वाला है।

आराधना-मन्त्र

पर्युषण का इतिहास किसी भी अनुश्रुति से सम्बद्ध रहा हो, आज वह जैन धर्म का एक महान् पर्व बन गया है। धर्म की आराधना कभी भी और कहीं भी की जा सकती है, किन्तु पर्युषण में धर्माराधना की जो सहज प्रेरणा मिलती है, वह अपने आप मे अद्‌भुत है। धर्म की आराधना के तीन अंग है—

१. ज्ञानाराधना
२. दर्शनाराधना
३. चरित्राराधना

जैन धर्म में समन्वय से सिद्धि मानी गई है। धार्मिक के लिए त्रिविध आराधना करना आवश्यक है। ज्ञानी होना अच्छा है पर कोरा ज्ञानी होना पर्याप्त नही है। चरित्रवान् होना अच्छा है पर कोरा चरित्रवान् होना पर्याप्त नहीं है। क्या कोई सच्चा ज्ञानी ऐसा होगा, जो ज्ञानी हो और चरित्रवान् न हो? क्या कोई सच्चा चरित्रवान् ऐसा होगा, जो चरित्रवान् हो और ज्ञानी न हो? वह मनुष्य न सच्चा ज्ञानी हो सकता है और न सच्चा चरित्रवान् हो सकता है, जो दृष्टि-सम्पन्न न हो। इसिालए ज्ञान, दर्शन और चरित्र—तीनों की समन्वित आराधना ही मनुष्य को पूर्ण धार्मिक बनाती है।

पर्युषण में ज्ञान की विशेष आराधना—अध्ययन-अध्यापन चलना चाहिए। दर्शन की विशेष आराधना—अनाग्रह और ऋजुतापूर्वक सत्य के प्रति समर्पण का भाव विकसित होना चाहिए। चरित्र की विशेष आराधना—आध्यात्मिक और नैतिक विषयों का विशेष अभ्यास होना चाहिए।

इस प्रकार त्रिविध आराधनापूर्वक मनाया जाने वाला पर्युषण पर्व धर्म के विकास का महान् उपक्रम हो सकता है।

अक्षय तृतीया

हस्तिनापुर का भव्य राज-प्रासाद। सम्राट् बाहुबलि का पौत्र श्रेयांस कुमार महल के झरोखे में बैठा था। रात को उसने एक स्वप्न देखा। स्वप्न में उसने अपने हाथों से मेरु पर्वत को अमृत से अभिषिक्त किया। वह इस अद्‌भुत स्वप्न के बारे मे सोच रहा था। सहसा उसकी दृष्टि भगवान् ऋषभ पर पड़ी, जो उस समय राजमहल के निकट से गुजर रहे थे। भगवान् ऋषभ कुमार श्रेयांस के संसारपक्षीय परदादा होते थे पर वह उन्हें पहचान नहीं पाया। पहचाने भी कैसे? भगवान् के प्रव्रजित होने के बाद तो उसका जन्म हुआ था। पूर्व भव में उसका भगवान् ऋषभ से निकट का सम्बन्ध था। पूर्व भव के संस्कारों से स्वाभाविक स्नेह जगा। उसने ऊहापोह किया और उसे जाति-स्मृति ज्ञान हो गया। वस्तुस्थिति का बोध होते ही कुमार नंगे पांव दौड़ा। भगवान् के चरणों में वन्दन किया और भिक्षा ग्रहण करने के लिए आग्रह करने लगा। भगवान् को दीक्षित होने के बाद आज तक भोजन नहीं मिला, यह जानकर कुमार श्रेयांस के मन में अत्यन्त पीड़ा हुई।

कुमार का अनुनय स्वीकार कर भगवान् राजमहल में पधारे। आगे क्या होता है यह जानने के लिए लोग उत्सुक हो रहे थे। वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का था। उस समय तृतीया का दिन आगामी कृषि का मुहूर्त्त करने के लिए शुभ माना जाता था। राजा को कृषि सम्बन्धी विविध उपहार प्राप्त होते थे। उस दिन श्रेयांस कुमार के राजमहल में इक्षुरस की भेंट आयी थी। कुमार ने इधर-उधर देखा, भिक्षा के योग्य पदार्थ नहीं मिला। एक ओर इक्षुरस के घड़े पड़े थे। मुनि के लिए कल्पनीय वस्तु वही थी। कुमार अपने हाथ से दान देने के लिए उद्यत हुआ। भगवान् के पास कोई पात्र नहीं था।

उन्होंने दोनों हाथों की निश्छिद्र अंजलि मुंह पर टिका दी। कुमार का स्वप्न साकार हो रहा था। अत्यन्त मुदित मन से वह भगवान् को भिक्षा देने लगा। जितना आवश्यक था उतना रस लेकर भगवान् ने अपने वर्षी तप का पारणा किया। लोगों ने भगवान् के घर-घर परिव्रजन का रहस्य समझा। उस दिन से तृतीया का महत्त्व और अधिक बढ़ गया। और वह अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हो गई। वह दिन धार्मिकों के लिए विशेष पर्व के रूप में मान्य हो गया। क्योंकि अनेक धर्मो में ऋषभ के अस्तित्व को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया गया है। जैन धर्म के अनुसार तो वे इस युग के आदि प्रवर्तक हैं ही। ऐसे महान् व्यक्ति की पुण्य पारणा-तिथि अपने-आप में बहुत बड़ा पर्व है। जैन श्रावक इस पर्व के महत्त्व को समझें और विशिष्ट संकल्प स्वीकरण के माध्यम से इसके गौरव को बढाएं।